

# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

वर्ष 9 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2011

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह-सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

**वार्षिक मूल्य :**

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

**एक प्रति का मूल्य**

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

**विज्ञापन दरें :**

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

**आस्था भारती****रजिस्टर्ड कार्यालय :**

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट  
मयूर विहार फेस-1 विस्तार  
दिल्ली-110 096

**कार्य-संचालन कार्यालय :**

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट  
मयूर विहार फेस-1 विस्तार  
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

**विषय-क्रम**

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. हिंदी : देश बोध से राजभाषा तक अच्युतानंद मिश्र	9
2. विकास शंकर पुणतांबेकर	15
3. धर्म-दर्शन का स्वरूप श्रीप्रकाश दुबे	22
4. बंकिम चंद्र चटर्जी और सांस्कृतिक विमर्श : 'आनंद मठ' का पुनर्पाठ सुधीर कुमार	32
5. कफन का प्रेमचंदपन बालेंदु शेखर तिवारी	44
6. समुदाय और सांप्रदायिक हिंसा शंकर शरण	53
7. कला : अर्थ, स्वरूप, दर्शन योगेश शर्मा	66
8. नागार्जुन एवं उमाशंकर जोशी के दृष्टिकोण मोहम्मद अजहर डेरीवाला	78
9. निर्गुण गीत सत्य प्रिय पाण्डेय	94

10. समीक्षा लेख मोहनजोदड़ो के बहाने कृपाशंकर सिंह	98
11. समीक्षात्मक लेख अहिंसा विश्वकोश रामचंद्र प्रधान	107
12. हिंदी आलोचना क्षेत्र की एक गुरुत्वाकर्षण कृति : चिंतन और सर्जन का समीक्षा-विवेक डॉ. नंदलाल मेहता 'वागीश'	114
13. पुस्तक समीक्षा साहित्य में समाज की अंतर्लीनता का प्रश्न डॉ. धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री'	122

## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

### बौद्धिक विमर्श का सतहीपन

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने भारतीय इतिहास लेखन की कमियों की चर्चा करते हुए सती प्रथा के अतिशय उल्लेख को प्रश्नांकित किया था और पूछा था कि भारत की जनसंख्या कितनी है? और उसमें सती की कितनी वारदातें होती हैं? स्पष्टतः इस प्रथा के अतिरिजित उल्लेख को रेखांकित करते हुए उन्होंने इतिहास लेखन में अपेक्षित सुधार की आवश्यकता की तरफ इंगित किया था। आखिर सांख्यिकीय दृष्टि से किसी तथ्य की जाँच-परख तो होनी ही चाहिए। अपवाद तो अपवाद ही होता है। फिर विरल अपवाद के साधारणीकरण का अस्वीकार तो होना ही चाहिए। इस अंक के एक लेख कफन का प्रेमचन्दपन, बालेन्दु शेखर तिवारीमें ऐसे ही विरल अपवाद का उल्लेख हुआ है।

जैसा कि प्रोफेसर तिवारी ने लिखा है, 'कफन' का "प्लॉट प्रेमचन्द ने कुछ आत्मीय लोगों को सुनाया था और मौखिक संतरण करता हुआ कथावृत्त जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पास पहुँचा तो वे इस कहानी के तीव्र विस्फोट एवं नग्न यथार्थ को पचा नहीं सके थे। आदमी इतना गिर नहीं सकता कि घर में पड़ी बहू/पत्नी की मौत का जश्न मनाने लगे। प्रेमचन्द तत्काल तो आचार्य शुक्ल की इस टिप्पणी पर चुप रह गये, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने मानवता के अधोपतन का एक जीवंत प्रमाण पेश कर दिया। प्रेमचन्द के मुहल्ले में एक स्त्री अपने बच्चे की दुहाई देकर भीख माँगती थी। एक दिन प्रेमचन्द ने बच्चे को स्पन्दनहीन देखा तो स्त्री से पूछा 'सच सच बताओ कि तुम्हारा यह बच्चा कब मरा?' इस पर सकपकाई स्त्री ने रोते हुए बताया कि इसे ही दिखाकर वह भीख माँगती रही है और कल शाम इसके मर जाने पर भी एकाघ दिन इसे दिखाकर भीख माँग लेना उसने स्वीकार किया। यह प्रसंग प्रेमचन्द ने आचार्य शुक्ल को सुनाया तो वे 'कफन' कहानी के कड़वे सच के कायल हो गये।"

प्रोफेसर तिवारी ने फिर लिखा है: "कफन की विश्वसनीयता पर मुहर लगानेवाला यह संस्मरण कई कठों से छन कर आने के कारण कई लोगों के लिए अप्रामाणिक है। लेकिन इतना तय है कि बुधिया की मश्रु का उत्सव मनानेवाले घीसू और माधव जैसे लोग प्रेमचन्द के समाज में थे।"

यहाँ प्रश्न 'कफन' की विश्वसनीयता का या समाज में घीसू एवं माधव जैसे लोगों के होने के नहीं हैं। प्रश्न हैं :

(क) क्या व्यक्ति-विशेष की विपथ-गामिता को मानवता के अधोपतन का जीवंत प्रमाण माना जा सकता है?

(ख) प्रेमचन्द ने घीसू एवं माधव की कामचोरी, आलसीपन, भूख, दीनता और नंगेपन का विस्तार से परिचय दिया है। जैसा कि प्रेमचन्द ने लिखा है: “घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिल आराम। माधव इतना कामचोर था कि आधा घंटा काम करता तो घण्टे भर चीलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मजदूरी नहीं मिलती थी। घर में मुठ्ठी भर अनाज भी मौजूद हो तो उनके लिए काम करने की कसम थी।” ऐसे पात्रों को केन्द्र में रखकर लिखी गयी कहानी के संदर्भ में ‘सामाजिक अन्तर्विरोध’, व्यापक मानवीय संवेदना और मनुष्य की जिजीविषा, ‘शोषण के नरक में अनवरत यातना सहते गरीब’, ‘महाजनी सभ्यता’, ‘क्रूर परिस्थितियाँ’ आदि बातें, “तकदीर की खूबी है मजूरी हम करें मजा दूसरे लूटें।” जैसे वक्तव्य का क्या औचित्य है? बुधिया के कफन के लिए जमीनदार पैसे देता है; उसके ससुर तथा पति उस पैसे से शराब पीते हैं। यह तथ्य सामाजिक अन्तर्विरोध का द्योतक है क्या?

(ग) हंसराज रहबर ने, ठीक ही, कफन को अराजकता को प्रोत्साहित करनेवाली एक गलत कहानी कहा है। फिर यह “हिन्दी कहानी का नक्सा बदलनेवाली कहानी”, “अपने पाठकों पर कथाकार के विश्वास की कहानी” कैसे बन गयी? क्या काहिली, कामचोरी एवं निहायत संवेदहीनता में भी किसी को मृत्यु एवं भूख के संकट से जूझने एवं व्यापक मानवीय संवेदना के दर्शन हो सकते हैं, जैसा कि प्रोफेसर तिवारी ने लिखा है?

जैनेन्द्र कुमार ने अपनी “तेइस हिन्दी कहानियाँ” में इसे हिन्दी की श्रेष्ठतम् कहानी माना है। यह हिन्दी आलोचना के सतहीपन का द्योतक है। एक तरफ कथानक एवं समीक्षा का चमत्कार; चौंकाने वाले अयथार्थ प्लॉट; दूसरी तरफ तथा यथार्थता का अनवरत उद्घोष। इसे हम हिन्दी आलोचना का दोगलापन क्यों न मानें? वस्तुतः समस्या लेखन एवं समीक्षा, दोनों के, स्तर पर है। प्रेमचन्द जैसे लेखकों की समझ पर तो प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता, लेकिन उनकी गलत समीक्षा से समस्या तो उत्पन्न हो ही जाती है। आज कच्ची समझ पर आधारित इतना अधिक लिखा जा रहा है कि हम प्रकाशनों का जंगल खड़ा कर रहे हैं। क्या पढ़ें? क्या न पढ़ें? इसका निर्णय कठिन होता जा रहा है। फार्मूला-बद्ध लेखन, मतवाद पर आधारित प्रचारात्मक साहित्य का लेखन, पश्चिम के किसी भी ‘वाद’पर आधारित साहित्यकार एवं समीक्षक का तत्काल पैदा हो जाना, वाह्य कारणों से उत्पन्न समस्याओं के कारणों का आभ्यन्तरण, आदि कुछ गंभीर समस्याएँ हैं। फिर समस्या केवल साहित्य एवं आलोचना तक ही सीमित नहीं है। मानविकी का समस्त विमर्श निहायत सतहीपन एवं बौद्धिक दरिद्रता का शिकार है।

ईसा की पहली से सतरहवीं शताब्दी तक भारत विश्व का सबसे धनी देश था। समस्त विश्व का लगभग एक-तिहाई से चौथाई धन तथा सकल घरेलू उत्पाद इसी देश

में अवस्थित था। 1700 के बाद स्थिति लगातार खराब होती गयी; 1700 में भारत का सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत 24.4 था जो 1950 में मात्र 4.2 प्रतिशत रह गया (दिखेंअंगुस मैडिस्सन, *द वर्ल्ड इकॉनामी ए मिलेनियल पर्सपेक्टिव्ह; Angus Maddison, The World Economy – A Millennial Perspective*)। आर्थिक हास अग्रेजों द्वारा भारत की लूट एवं हमारे शिल्पों को विध्वंश के कारण हुई। इसकी विस्तृत जानकारी रमेश चन्द्र दत्त (*इकानामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया, Economic History of India*) एवं दादा भाई नौरोजी ने (*पॉवर्टी एण्ड द अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, Poverty and Un-British Rule in India*) दिया है। विल दुरॉ (*द केस फार इण्डिया, The Case for India*) एवं लाला लाजपत राय (*अनहैप्पी इण्डिया, Unhappy India*) भी इस पर प्रकाश डालते रहे हैं। भारत में ब्रिटिश राज न केवल गरीबी का, बल्कि अशिक्षा का भी कारक रहा है, जैसा कि विलियम आडम्स, मुनरो एवं इबेट्सन आदि के अध्ययनों/दस्तावेजों तथा धर्मपाल की विद्वतापूर्ण पुस्तक ‘*ब्यूटिफुल ट्री*’ (*Beautiful Tree*) से हमें जानकारी मिलती है। अल-बेरुनी के ‘भारत’ में केवल चार जातियों एवं सबके एक स्थान पर सहभोज का उल्लेख हैं। हमारे लेखन में इन अध्ययनों से प्राप्त तथ्य बहुधा नहीं पाये जाते। जहाँ वाह्य कारण हैं, वहाँ भी आन्तरिक कारण खोजे या आरोपित किए जाते हैं। सार्थक बदलाव को नजरअन्दाज किया जाता है। ऐसा विचार-धारा विशेष के शिक्षण, लेखन एवं समाचार जगत में प्राधान्य के कारण हो रहा है। हम एक तरह की विचित्र बौद्धिक जकड़न के शिकार हैं। निदान आवश्यक हैं।

आजकल बाजारवाद, नयी वैश्विक व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था पर ‘कापरेट’ जगत के हावी होने जाने के खबरों की बड़ी चर्चा है। डैविड कार्टेन (*ह्वेन कारपोरेशन्स रूल-द-वर्ल्ड, When Corporations Rule the World*), डैविडसन बुधू (*इनफ इज इनफ, Enough is Enough*), जोहन पार्किर्न (*कानफेशन्स आफ ऐन एकनॉमिक हिट मैन, Confessions of an Economic Hit Man*) तथा नोबल-पुरस्कार प्राप्त कर्ता जो सेफ इ स्टिग्लिज़ (*ग्लोबलाइजेशन एण्ड इट्स डिस्कोन्टेन्ट्स, Globalization and its Discontents*) आदि भी इनके खबरों से हमें सावधान कर रहे हैं। स्वदेशी एवं दुनिया को बदलने की बात भी होती रहती है। इस बात को भुला दिया जाता है कि दुनिया का बदलाव संभव नहीं जबतक हम अपने को न बदलें; अपने स्थापित मूल्यों को फिर प्राप्त न कर लें, जो शिक्ष में बदलाव के बिना संभव नहीं। फिर खतरे की सूचना मात्र काफ़ी नहीं। दुर्योधन जानता था कि धर्म क्या है, लेकिन उसमें उसकी प्रवृत्ति नहीं थी; वह यह भी जानता था कि अधर्म क्या है, किन्तु वही उसे अच्छा लगता था। उसने कहा था : “जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मम् न च मे निवृत्तिः।”

फिर जो शिक्षा आज हम दे रहे हैं, वह कमोवेश वही है जिसके विषय में विवेकानन्द ने लिखा था :

“जब कोई बच्चा स्कूल ले जाया जाता है तो पहली बात वह यह सीखता है कि उसका बाप मूर्ख है, दूसरी कि उसका दादा विक्षिप्त है, तीसरी कि उसके सभी शिक्षक पाखण्डी हैं और चौथी कि उसके सभी धर्मग्रन्थ झूठे हैं। परिणामस्वरूप, सोलह वर्ष की उम्र के होने तक वह नकार का पुंज बन जाता है, बिल्कुल जीवंतता-विहीन, लोथड़ा। इसके परिणामस्वरूप पचास वर्ष के अंगेजी राज में समस्त ब्रिटिश भारत में एक भी मौलिक सोच का व्यक्ति नहीं पैदा हुआहमने केवल कमजोरी ही सीखी है।”

स्पष्टतः शिक्षा में बदलाव द्वारा ही सभी तरह के बदलाव संभव हैं।

**बी.बी. कुमार**

## हिंदी : देश बोध से राजभाषा तक

**अच्युतानंद मिश्र\***

विश्व भाषाओं के इतिहास में अनगिनत तथ्यों के साथ यह दर्ज है कि पिछले एक हजार वर्ष में एक जीवंत और विकासशील भाषा के रूप में हिंदी की प्रगति बेहद शानदार रही है। स्वाधीन भारत के छह दशकों में हिंदी के साथ हुए राजनीतिक षड्यंत्र को अगर छोड़ दें तो यह प्रमाणित हो चुका है कि ‘हिंद’ और ‘हिंदू’ की तरह हिंदी भी ईरान से ही अरब, मिस्र, सीरिया तथा अन्य देशों के साहित्य में शामिल हुई थी। शताब्दियों तक इसका प्रयोग हिंद या भारत से संबंधित किसी व्यक्ति, वस्तु और भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं के लिए होता था। प्राचीन भारतीय भाषाओं जैसे प्राकृत, पाली, संस्कृत या अपभ्रंश में हिंदी शब्द नहीं मिलता, लेकिन अरबी और फारसी साहित्य में इन भारतीय भाषाओं के लिए ‘जबाने हिंद’ शब्द का उल्लेख मिलता है। विकासक्रम में ‘हिंदवी’, ‘हिंदुई या हिंदी’ का उल्लेख देश बोधक शब्द के रूप में था भाषा बोधक रूप में नहीं। अमीर सुखरो से मलिक मोहम्मद जायसी तक ने हिंदी के लिए ‘हिंदवी’ शब्द का ही प्रयोग किया है। दक्खिनी हिंदी के प्रयोग में भी ‘हिंदी’, ‘हिंदवी’ और ‘हिंदुस्तानी’ समानार्थक शब्द थे। हिंदी साहित्य कोश में उल्लेख है कि इतिहासकार अलबेरूनी (1025) ने भारत की भाषाओं को ‘अलहिंदयः’ लिखा है। राजदरबारों में पृथ्वीराज चौहान (सन् 1000) से महाराणा रणजीत सिंह (1839) तक के सरकारी कामकाज और राज्यादेशों में हिंदी का प्रयोग मिलता है। सम्राट अशोक के शिलालेखों और राजाज्ञाओं के पाली में होने के प्रमाण तो हैं लेकिन मनुस्मृति, शुक्र नीतिसार, कौटिल्य अर्थशास्त्र, पाराशर स्मृति, धर्मसूत्र और रामायण तथा महाभारत जैसे ग्रंथों के संस्कृत में होने के कारण पूरे भारत के बौद्धिक विमर्श, साहित्य और प्रशासन पर संस्कृत का वर्चस्व तो था लेकिन लोकभाषा संस्कृत नहीं थी। दक्षिण भारत में तमिल, तेलुगू और कन्नड का प्रयोग स्थानीय प्रशासन और दस्तावेजों के

\* अच्युतानंद मिश्र, भूतपूर्व कुलपति, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

लिए होता था लेकिन जब मलयालम राजभाषा थी तो संस्कृत ग्रंथों के आधार पर विद्वानों की व्याख्या सुनकर ही राजा अपने निर्णय देते थे।

भारत के सामाजिक और प्रशासनिक जीवन में परिवर्तन मुगलकाल से शुरू होता है और 'आइन-ए-अकबरी' में अकबर की जिस शासन प्रणाली और शब्दावली का वर्णन है उससे विद्वानों का यह निष्कर्ष है कि राजा टोडरमल जैसे तत्कालीन प्रशासकों ने पूरी शब्दावली फारसी से ली थी जो धीरे-धीरे अन्य रियासतों और छोटे राज्यों तक पहुँच गई। मुगलराज के बाद और अंग्रेजों के आने के पूर्व जिन राज्यों में मराठा शासकों का प्रभाव था वहाँ भी फारसी शब्दावली का ही प्रयोग होता था। दक्खिनी हिंदी जिसका प्रचलन हैदराबाद, मैसूर, आकार्ट और ट्रावनकोर कोचीन तक मिलता है उसी प्रभाव के अंतर्गत आते हैं। शायद यही कारण था कि ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश सरकार के शासनकाल में हिंदुस्तानी भाषाओं के साथ उर्दू को भी मान्यता दी गई। पुलिस, मजिस्ट्रेट तथा अन्य अदालतों में प्रशासकीय भाषा के रूप में भी उर्दू मान्य थी। चार मई सन् 1800 को कोलकाता में ईस्ट इंडिया कंपनी ने फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की थी। भारतीय साहित्य के योरोपीय अध्ययन-कर्ताओं के लिए इस कॉलेज का बड़ा महत्त्व था। इसमें संस्कृत, अरबी-फारसी के साथ हिंदी, बांग्ला, तमिल, मराठी और तेलुगू भाषाएँ भी पढ़ाई जाती थीं। अंग्रेजी-हिंदुस्तानी कोश का निर्माण करने वाले प्रोफेसर गिलक्रिस्ट की नियुक्ति हिंदुस्तानी विभाग के प्रोफेसर के रूप में की गई थी। इतिहास में यह उल्लेख है कि 1810 में एडिनवरा से इस कोश का जो संस्करण प्रकाशित हुआ था उसमें फारसी लिपि का त्याग कर दिया गया था। इसी प्रोफेसर गिलक्रिस्ट ने देवनागरी लिपि के रोमनीकरण (लिप्यंतरण) की विधिवत रूपरेखा तैयार की थी और हिंदुस्तानी-रोमन वर्णमाला की पुस्तक भी लिखी थी। बाद में विलियम जोन्स और कालब्रुक ने इसमें सुधार किया और आगे भी बढ़ाया। एशियाटिक सोसायटी के माध्यम से जोन्स ने सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक रोमन वर्णमाला तैयार की थी जिसे एशियाटिक सोसायटी के विद्वत परिषद ने मान्यता दी और अपने सभी प्रकाशनों के माध्यम से इसका प्रचार किया था। दस जून 1834 को लार्ड मैकाले गवर्नर जनरल की कौंसिल का कानून सदस्य बनकर भारत आया था। 1835 में उसने अपनी विवादित रपट पेश की थी। रपट का मुख्य अंश यही था कि भारत में प्रचलित भाषाएँ अविकसित और गँवारु हैं। उनमें ज्ञानकोश का अभाव है। इन भाषाओं में अंग्रेजी के श्रेष्ठ ग्रंथों का अनुवाद नहीं होता, इसलिए शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा को ही अपनाना पड़ेगा। यद्यपि डॉक्टर डब्ल्यू बी. बेली और अनेक योरोपीय भारतीय भाषाओं के प्रतिष्ठित विद्वान मौजूद थे और प्रोफेसर गिलक्रिस्ट के छात्र डॉक्टर बेली तो स्थानापन्न गवर्नर भी रह चुके थे, लेकिन सात मार्च 1835 को लार्ड विलियम बैंटिक ने यह आदेश जारी किया था कि भारतीय

भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित न की जाएँ और इससे जो धनराशि बचेगी उससे अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा को आगे बढ़ाया जाए। 1835 से 1853 तक मैकाले की बनाई शिक्षा नीति चलती रही। 1854 में बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष चार्ल्स उड ने पूर्व नीति में परिवर्तन करते हुए एक नया घोषणा पत्र जारी किया जिसमें कहा गया था कि अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा केवल उन्हीं लोगों की दी जाए जो अंग्रेजी लिख पढ़ सकते हैं, शेष लोगों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा दी जाए। 1857 में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के समय जर्मन विद्वान मैक्समूलर संस्कृत साहित्य का इतिहास लिख रहे थे। इसके बाद ही भारतीय भाषाओं का वृहत्तर अध्ययन आरंभ हुआ। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने जो 1871 में भारतीय सेवा में आए थे और बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अनेक सरकारी पदों पर कार्यरत थे, हिंदी, बांग्ला, संस्कृत, प्राकृत, मैथिली सहित अनेक भाषाओं का विस्तृत अध्ययन तथा रचनाओं का संपादन किया था। ग्रियर्सन की व्याख्याओं, विश्लेषणों और निष्कर्षों से अनेक विद्वान असहमत थे और आज भी हैं लेकिन सभी ने यह स्वीकार किया है कि 'भारत का भाषा सर्वेक्षण', 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास', 'बिहारी भाषा की सात बोलियों और उपबोलियों का व्याकरण' जैसे मौलिक ग्रंथों के अतिरिक्त ग्रियर्सन ने विद्यापति, तुलसीदास, मलिक मोहम्मद जायसी, चंदवरदाई जैसे महान कवियों पर महत्त्वपूर्ण शोध करके भारतीय भाषा साहित्य को समृद्ध किया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ग्रियर्सन की कई टिप्पणियों और मान्यताओं पर क्षोभजनक आपत्ति उठाई है। उन्होंने हिंदी को 'आविष्कृत' और 'संकीर्ण भाषा' लिखने का प्रमाणों सहित खंडन किया है। अंग्रेजी राज के पूर्व यदि उत्तर भारत के सिद्धों, संतों, महात्माओं के उपदेशों को शामिल कर लें तो यह निर्विवाद है कि सातवीं शताब्दी से अपनी बोलियों-उपबोलियों की शब्द संपदा से गुजरती हुई हिंदी सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चंद्र, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्यामसुंदर दास, महावीर प्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे हजारों हिंदी विद्वानों के लेखन से समृद्ध और परिमार्जित होकर आज की खड़ी बोली तक पहुँची है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कोलकाता में आचार्य केशवचंद्र सेन ने स्वामी दयानंद सरस्वती को संस्कृत छोड़कर हिंदी को अपने विमर्श और व्याख्यान की भाषा बनाने का परामर्श दिया था। उस समय तक अंग्रेजी राज और सभ्यता के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले हमारे राजनीतिक और सांस्कृतिक मनीषियों ने यह निर्णय कर लिया था कि इस अभियान में अन्य भारतीय भाषाओं के सांस्कृतिक और साहित्यिक योगदान का भरपूर सहयोग लेते हुए अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी संग्राम में हिंदी को ही प्रतिष्ठित करना होगा। इतिहास साक्षी है कि स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, स्वामी श्रद्धानंद, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महादेव गोविंद रानाडे, लोकमान्य तिलक, रवींद्रनाथ ठाकुर, श्री

अरविंद घोष, सुभाषचंद्र बोस, रामानंद चैटर्जी, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जैसे हजारों ऐसे राजनेताओं और साहित्यकारों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का संकल्प लिया था जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं थी। महात्मा गाँधी इस शृंखला के ऐसे तेजस्वी नेता था जिन्होंने राष्ट्रभाषा के साथ-साथ हिंदी को स्वराज संघर्ष का एक धारदार हथियार बना दिया था। भारत में अपनी राजनीति शुरू करने के पहले ही 1910 में गाँधीजी ने कहा था, “हिंदुस्तान को अगर सचमुच एक राष्ट्र बनना है तो चाहे कोई माने या न माने राष्ट्रभाषा हिंदी ही बना सकती है।” 1918 में हिंदी साहित्य सम्मेलन का इंदौर अधिवेशन एक ऐतिहासिक घटना है जिसमें दक्षिण भारत में हिंदी के प्रचार का प्रस्ताव पारित हुआ था।

गाँधी जी ने अपने अठारह वर्षीय पुत्र देवदास गाँधी तथा स्वामी सत्यदेव को इस काम के लिए चेन्नै (मद्रास) भेजा था। गाँधी जी की प्रेरणा से ही हिंदी प्रचारकों की एक विशाल टोली गठित हुई थी। इस टोली में मोटूरी सत्यनारायण, भालचंद्र आपटे, पट्टाभि, सीतारामैया, एस.आर. शास्त्री, शिवराम शर्मा जैसे विद्वान थे। ऐसे सैकड़ों हिंदी प्रचारकों को अंग्रेजों ने जेल भेजा था। 1925 में वर्धा में ‘राष्ट्रभाषा प्रचार समिति’ की स्थापना भी हिंदी के इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है। जीवन के अंतिम दिनों में हिंदी और हिंदुस्तानी को लेकर हुए मतभेदों को छोड़ दें तो गाँधी और उस दौर के राष्ट्रीय नेताओं का यह सपना था कि अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी ही शिक्षा, प्रशासन, न्याय, वाणिज्य, अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार के साथ राष्ट्रीय विमर्श और स्वाभिमान की भाषा बनेगी। स्वाधीन भारत के 64 वर्षों में भी क्या उस सपने को पूरा करने की कोई ईमानदार और सार्थक कोशिश की गई है? स्वाधीनता संग्राम के दौर में भी हिंदी साहित्य और हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने क्रांतिकारियों का समर्थन और निर्भीक राजनीतिक चेतना जगाने में असाधारण योगदान दिया था। सर्वश्री गणेश शंकर विद्यार्थी, बालमुकुंद गुप्त, माधवराव सप्रे, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’, बाबूराव विष्णु पराङ्कर, अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मणनारायण गर्दे, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, झाबरमल्ल शर्मा, आचार्य शिवपूजन सहाय, पंडित दशरथ प्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीनारायण चतुर्वेदी जैसे पत्रकारों और संपादकों की लंबी लड़ी है जिन्होंने न केवल राष्ट्रीय संग्राम की चेतना और हिंदी की शब्द संपदा को समृद्ध किया अपितु ब्रिटिश साम्राज्यवाद को खुली चुनौती देते हुए जेल यात्राएँ भी कीं। अमर शहीद संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी के बारे में माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा था, “गणेशजी अपनी हथेलियों पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उठाकर उछालना चाहते थे। मातृभूमि की पूजा और वंदेमातरम् का शंखनाद वे स्वयं थे।... जमानतें, तलाशियाँ, मुकदमे, सजा और दंड देकर शासक सुखी होते, दंड पाकर गणेशजी गर्वीले होते।”

## संविधान, सरकार और षड्यंत्र

स्वाधीन भारत का संविधान बनाने वाली सभा का स्वरूप और गठन प्रक्रिया आरंभ से ही विवादित थी। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद और अनेक सदस्य यह चाहते थे कि संविधान का निर्माण अंग्रेजी में न होकर किसी भारतीय भाषा में हो। उनकी यह सदिच्छा पूरी नहीं हो सकी। जिस कांग्रेस ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित किया था उसी कांग्रेस के सदस्यों ने संविधान सभा में देश का नाम ‘इंडिया’ और हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद से हटाकर राजभाषा अर्थात् केवल सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। 14 सितंबर, 1949 को संविधान सभा ने अपने अध्यक्ष को यह अधिकार दे दिया कि संविधान के हिंदी अनुवाद का प्राधिकृत पाठ तैयार किया जाए। यह प्राधिकृत पाठ जिसे 26 जनवरी, 1950 को लागू होना था 38 वर्ष बाद 23 अगस्त, 1988 को लागू किया गया। उस अनुवाद में यह भी उल्लेख है कि पाठों में विसंगति होने पर अंग्रेजी पाठ ही मान्य होगा। संविधान में यह उल्लेख है कि संविधान लागू होने के पंद्रह वर्ष बाद पूरे शासकीय क्षेत्र में अंग्रेजी का प्रयोग वर्जित हो जाएगा, लेकिन बाद में राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा 3 (1) में यह उपबंध कर दिया गया कि संसद में अंग्रेजी का प्रयोग अनिश्चित काल तक चलता रहेगा। राजभाषा अधिनियम में संशोधन करके ही इसे रोका जा सकता है। 1959 में देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का संसद में अंग्रेजी के पक्ष में दिया गया वक्तव्य भारतीय भाषाओं पर अनंतकाल तक अंग्रेजी की गुलामी थोप गया है। अगर किसी देश की सरकार, संसद और प्रधानमंत्री ही संविधान की मंशा के विरुद्ध राजभाषा-राष्ट्रभाषा को उसके अधिकारों से वंचित कर दे तो उसे षड्यंत्र के अलावा क्या कहा जा सकता है? भारत के एक दर्जन से अधिक प्रधानमंत्रियों में से किसी ने यह उत्सुकता भी नहीं दिखाई कि राजभाषा को उसका उचित स्थान दिलाया जाए। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के साथ हो रहे अन्याय का प्रतिकार करने के लिए उन भाषाओं के साहित्यकार, संपादक, शिक्षक और साहित्य प्रेमी भी एकजुट होकर खड़े नहीं हैं। अंग्रेजी को भारतीय भाषा और नागरी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि को स्वीकार करने की खुलेआम सहमति बनाई जा रही है। जिस हिंदी ने पराधीन भारत को स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और स्वदेशी की चेतना से संस्कारित किया था, अचानक गहरे अवसाद में क्यों चली गई? किसी भी सरकार को संसद में बहुमत की शक्ति प्रदान करने वाले हिंदी भाषी प्रदेश विकास की दौड़ में पिछड़े और बीमारू क्यों घोषित कर दिए गए? हिंदी अंचलों में परितर्वन और विद्रोह का सनातन स्रोत क्यों सूखने लगा है? राष्ट्रीय विमर्श में हिस्सेदारी देकर नहीं बल्कि फिल्मों और टेलीविजन की दुनिया में बढ़ती

स्वीकृति को लेकर हिंदी की तरक्की समझाई जा रही है। हिंदी को दिवस, सप्ताह और पखवाड़ा मनाकर अनुदानों के सहारे जीवित रखा जा रहा है। इस उपेक्षा का शायद सबसे बड़ा कारण यह है कि हिंदी केवल प्रशासन, शिक्षा, न्याय और बौद्धिक विमर्श से ही नहीं हिंदी बोलनेवाले परिवारों में भी तिरस्कृत और बहिष्कृत होती जा रही है। हम अपने सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवहार में भी अंग्रेजी से काम चला लेते हैं। यह हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान और अस्मिता के मर्मस्थल पर चोट है। हम दोहरे पाखंड में जी रहे हैं। फिल्मों, विज्ञापनों, कंप्यूटरों और अन्य मनोरंजन में भी रोमन लिपि के बढ़ते प्रयोग से हम चिंतित नहीं हैं। हिंदी पत्रकारिता में अंग्रेजी शब्दों के जबरन ठूँसे जाने पर हमारे पाठक चिंतित नहीं हैं। एक ओर राष्ट्र संघ में हिंदी को प्रतिष्ठित करने की माँग भी कर रहे हैं और दूसरी ओर अंग्रेजी की तुलना में हिंदी को अविकसित और दरिद्र भी मानते हैं। इस अंधकार के बीच एक चमकदार रेखा शायद यह है कि हिंदी में रोजगार देने की क्षमता बढ़ी है। तकनीकी शिक्षा में भी हिंदी की स्वीकारोक्ति बढ़ी है। दक्षिण भारत में हिंदी का विरोध घटा है और कॉलेजों में नई पीढ़ी हिंदी पढ़ने और सीखने लगी है। इसी प्रस्थान बिंदु से क्या हिंदी अपनी खोई पहचान और अस्मिता प्राप्त कर सकेगी?

## ललित निबंध

### विकास

#### शंकर पुणतांबेकर

विकास धर्म, अर्थ, काम का मोक्ष है।

कहा जा सकता है कि विकास की यह व्याख्या ऐसे शब्दों में है जिनका समूह पिछड़ेपन का अहसास कराता है। यह भी कि विकास मॉडर्न है और इनमें धर्म तथा मोक्ष तो कदापि मॉडर्न नहीं हैं जबकि विकास मोक्ष कहा गया है।

विकास जब वस्तु-विकास होगा, साधन-विकास तो इस प्रकार का आक्षेप स्वाभाविक है। धर्म और मोक्ष में वस्तु-साधन गौण हैं जबकि विकास इन्हीं के चरम का नाम है। मैं तैनात पर पैदल पहुँचता हूँ और मेरा पड़ोसी वाहन से। पड़ोसी में विकास है उसके वाहन के कारण। वह देर से पहुँचता है उस दशा में भी विकास, वह बचे हुए समय का दुरुपयोग करता है उस दशा में भी विकास, उसने वाहन गलत ढंग से कमाया है उस दशा में भी विकास।

मोक्ष का अर्थ यदि चरम है मुक्ति-वुक्ति नहीं तो विकास की व्याख्या आज यों की जाएगी विकास अर्थ, काम का मोक्ष है। मॉडर्न होने के नाते विकास विज्ञान है और विज्ञान में धर्म नहीं बैठता।

विकास में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का समूह टूट गया है। दो टुकड़ों में। एक टुकड़े में धर्म-मोक्ष हैं तो दूसरे में अर्थ-काम। और ये टुकड़े परस्पर टकराते हैं। धर्म-मोक्ष का टुकड़ा पिछड़ा हुआ माना जाता है तो अर्थ-काम का विकसित। एक दकियानूसी तो एक आधुनिक।

दोनों में कामना पर कटाक्ष है। धर्म काम-मुक्त मोक्ष की बात करता है तो अर्थ काम-सिद्ध मोक्ष की। इस अर्थ में वर्तमान विकास में धर्म और अर्थ दुनिया के दो विरुद्ध ध्रुव बन गए।

नाटक का संकलनत्रय होता है स्थान, समय, प्रसंग में। कुछ वैसा ही दुनिया का संकलनत्रय है। विकास दुनिया का हुआ है, सो इसी संकलन को दृष्टिगत रख वर्तमान विकास को देखा जा सकता है।

3 माया देवी नगर, जलगाँव-2, 425002; मो. 09403159031



स्थान की दृष्टि से विचार करें तो हमारा विकास नगर का विकास है। हाँ, नगर ही इसका रंगमंच है।

नाटक में रंगमंच प्रसंग के अनुरूप बदलता रहता है। विकास में ऐसा नहीं होता, यहाँ नगर के अनुरूप प्रसंग को, पर्याय से पात्रों को मनुष्य को बदलना होता है। भाषा, वेश-भूषा, अभिनय बदलना होता है। और तो और कथानक भी। तुम देहात में विवाहित हो, नगर में नहीं हो। तुम देहात में धर्म हो, नगर में नहीं, यहाँ अर्थ हो। नगर में अब तुम मूल्य नहीं, कीमत हो। नगर में तुम्हारा दोस्त दोस्त नहीं है, पड़ोसी पड़ोसी नहीं है, रिश्तेदार रिश्तेदार नहीं है। नगर में तुम दुकानदार ही नहीं बेचारगी से भरे ग्राहक भी हो अथवा केवल ग्राहक नहीं बेदरदी से भरे दुकानदार भी हो। तुम यहाँ एक कदम पर कृष्ण हो तो दूसरे कदम पर कंस। नगर यानी यह रंगमंच संक्षेप में तुम्हारे-मेरे लिए नहीं है, बल्कि तुम और मैं नगर के लिए हैं। तभी सभी भागते हैं नगर की ओर। नेता-व्यापारी-डॉक्टर-इंजीनियर की बात ही छोड़िए, नगर इन्हीं से बना है जैसे सीमेंट-लोहे-ईट-गारे से इमारत बनती है। मजदूर-बेरोजगार-भिखारी भी इस ओर भागते हैं।

आदमी नगर बना रहा है, नगर आदमी बना रहा है। इन दो वाक्यों में जमीन-असमान का अंतर है। पहले वाक्य 'आदमी नगर बना रहा है' में चेतन जड़ को गढ़ रहा है, तथापि इसमें पिछड़ापन है। इसके विपरीत दूसरे वाक्य 'नगर आदमी बना रहा है' में जड़ चेतन को गढ़ रहा है, इसलिए इसमें विकास है।

इस मायने में चेतन देहात जड़ और जड़ नगर चेतन।

क ने आदमी बनाने की शिक्षा हासिल की और ख ने इमारत बनाने की शिक्षा हासिल की। क से ख की शिक्षा ऊँची है, क्योंकि आदमी नहीं इमारत नगर का महत्वपूर्ण घटक है नगर जो विकास का महत्वपूर्ण घटक है। यही कारण है कि क का 'आदमी जो हम बना रहे हैं' सबके लिए होकर भी अर्थशून्य है जबकि ख का 'इमारत जो हमने खड़ी की है' सबके लिए न होकर भी अर्थवान है।

क नहीं नगर कहता है 'आदमी जो बना रहे हैं' वह आदमी के लिए नहीं नगर के लिए बना रहे हैं। तभी तो नगर का आदमी आदमी छोड़ देगा नगर नहीं छोड़ेगा, तभी विकास नगर का हो रहा है और आदमी का विकास नगर के विकास में से जाना जाता है। क बरखेड़ी में एक है, दिल्ली में सौ तो न्यूयार्क में हजार।

स्थान की दृष्टि से जहाँ विकास नगर का हुआ है, वहाँ समय की दृष्टि से यह विकास रात का हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि विकास में रात जगमगाई है और दिन से कहीं अधिक सुंदर बनी है।

हाँ, यह रात भी नगर की रात है। कभी कहा जाता था लंदन सोता नहीं है। लंदन समृद्धि और शक्ति का प्रतीक था। आज विकास में हम कह सकते हैं कि समृद्धि और शक्ति सोती नहीं हैं।

हाँ, समृद्धि और शक्ति सोती नहीं हैं रंजन में।

क्लब बन गए, थिएटर विकसित हुए, कैसेनो चल पड़े।

रात जगमगाई बिजली से। बिजली में प्रकाश, गति, शक्ति है। यह बिजली विकास की आग और पहिया के पश्चात् तीसरी सीढ़ी है। तीसरी भी और अंतिम भी। अंतिम इसलिए कि बिना बिजली के अन्य सोपान शून्यवत हैं। बिजली के बिना तो विकास में दिन भी अंधकारमय हो जाता है। हाँ, दिन को भी तो हमने सूरजरहित बना दिया है। बिजली चली जाती है, तो समय को जैसे लकवा लग जाता है।

आग शस्त्र बनी, पहिया वाहन बना और कहना न होगा कि इनसे समृद्धि और शक्ति ही अधिक समृद्ध और शक्तिशाली बने। और यही बात बिजली को लेकर कही जा सकती है।

बिजली गरीब के लिए प्रकाशरहित गति है, सामान्य के लिए शक्तिरहित प्रकाश है तो अमीर के लिए गतिरहित शक्ति।

और हमारा वर्तमान विकास भी इस बिजली जैसा है। इसने साधनहीन को गति तो दी प्रकाश नहीं, ज्ञानी के लिए और ज्ञान तो दिया पर शक्ति नहीं और जो समृद्ध है तथा सत्तासीन उन्हें और शक्तिसंपन्न तो बनाया पर विचारशीलता में ये रहे जहाँ के तहाँ। बल्कि कह सकते हैं और मदांध हो गए।

क्लब, थिएटर, कैसेनो सोते न हों, पर ये स्वयं अपने आप में नींद हैं।

इनकी रात जितनी अधिक जगमगाती हुई, उतनी ही यह काली और भयावनी। इन्होंने शराब का रंग लाल नहीं रहने दिया उसे काला और काला बना दिया।

स्थान और समय के पश्चात् अब विकास के संकलनत्रय की तीसरी इकाई प्रसंग पर आता हूँ।

यहाँ भी प्रसंग वह जो नगर में घटित होता है। नगर का भी वह जो समृद्धि और शक्ति से जुड़ा है। दो गरीब भूख से मर गए और ठीक उसी समय गवर्नर ने अस्पताल में अन्न-प्राशन किया। इनमें पहला प्रसंग नहीं है, दूसरा है। अस्पताल में गवर्नर की भूख को वापस लाने में और वीआईपी व्यवस्था पर इतना खर्च कि गरीबों पर भूख से मरने की नौबत आ जाती है। प्रसंग में दो तत्त्व होते हैं घटना और व्यक्ति। इनमें घटना असामान्य हो और संबद्ध व्यक्ति सामान्य तो प्रसंग बनता ही नहीं। इसके विपरीत घटना सामान्य हो और संबद्ध व्यक्ति असामान्य तो इससे प्रसंग बनता हैसामान्य नहीं असामान्य प्रसंग। घोड़ा मरता है प्रसंग नहीं, हाथी छींकता है प्रसंग है।

विकास में घटना और व्यक्ति को हीरो बनाना समाचारपत्र का कार्य है।

मेरे पड़ोसी ने एक शिक्षा-संस्था को दो लाख का दान दिया। समाचारपत्र वालों ने इसका दखल ही नहीं लिया, घटना हीरो होकर भी हीरो नहीं बन सकी। इसके विपरीत मैंने गरीब छात्रों की पुस्तकों के लिए दो हजार का दान दिया, अब चूँकि

समाचारपत्र वालों को मैंने 'खान-पान' से पहले ही पटाकर रख लिया था, सो उन्होंने इस घटना की ऐसी पब्लिसिटी की कि जीरो घटना हीरो बन गई।

पब्लिसिटी घटना की आत्मा है।

दस-दस जगहों से लौटी हुई मेरी कथा यदि टीवी सीरियल चढ़ जाती है तो उसे जैसे मंत्रीपद ही मिल जाता है। क्रिकेट की कमेंटरी से अलग कर दो गिल्ली-डंडा बना रह जाएगा।

तीन गुणा क्वालिटी नौ होते हैं, तीन गुणा समाचारपत्र सत्ताईस तो तीन गुणा टीवी एकदम तीन हजार हो जाते हैं। सो विकास में योग्यता जितनी महत्वपूर्ण नहीं है उतना मीडिया है।

इसी तरह विचार को तुम आचार में उतारो न उतारो किंतु मीडिया को साथ ले उसे प्रचार में उतारते हो, तो तुमसे वह व्यक्ति लड़ाई हार जाएगा जिसने विचार को साक्षात् आचार में उतारा है।

विकास में मीडिया अब बिन बारूद की तोप है।

संकलनत्रय से हमने विकास का स्वरूप देखा, अब उसके केंद्रबिंदु को देखें।

विकास के तीन केंद्रबिंदु हैं शस्त्र, वाहन और पैसा। मैं इन्हें केंद्रबिंदु इसलिए मानता हूँ कि यदि इन तीनों के विकास को बढ़िया कर दिया जाए, तो हम बीसवीं शताब्दी में नहीं दो सौ तीन सौ वर्ष पूर्व की शताब्दी में पहुँच जाएँ। चैन से साँस लेती दशा में।

मनुष्य यदि विकसित हुआ है, क्रमशः जानवर से मनुष्य बना है तो उसे शस्त्र से मुक्ति मिलनी चाहिए। पर ऐसा नहीं हुआ है। मनुष्य की विकास-यात्रा शस्त्र की विकास-यात्रा के साथ जुड़ी हुई है। पत्थर या भोथरा शस्त्र मनुष्य के जंगलीपन का लक्षण है। इसके विपरीत एटम बम या भयावना शस्त्र मनुष्य के विकास का लक्षण है। मनुष्य शिक्षित है, सभ्य है, विवेकशील है और इसलिए शस्त्ररहित है तो उसका इतिहास ही नहीं है। इसीलिए तो हम सीधे-सीधे कहने को बाध्य हैं कि मनुष्य के विकास का इतिहास उसके शस्त्र के विकास का इतिहास है।

शस्त्र और शास्त्र में जीत नित्य शस्त्र की रही है।

शास्त्र के शांतिकाल में मनुष्य यदि शस्त्र से गाफिल रहा तो वह अपनी कब्र खोद रहा है। हाँ, सभ्यता का उच्च इतिहास हमें यही बताता है।

ज्ञान-विज्ञान, भाषा-संस्कृति, अर्थ-वाणिज्य की तूती उसी की बोलती है जिसके शास्त्र नहीं शस्त्र ऊँचे हैं। ऊँचे से तात्पर्य डरावने-विध्वंसकारी।

विकास का दूसरा बिंदु वाहन शांतिकाल का शस्त्र है। शस्त्र विकास की लुप्टी प्रक्रिया है तो वाहन खुली हुई। विकास में वाहन इतना महत्वपूर्ण है कि शस्त्र इसके बिना पंगु है।

शास्त्र मस्तिष्क है वाहन पद। शरीर में पद भले ही नीचे हो, व्यवस्था में पद शीर्षस्थ होता है। इसीलिए कहा जा सकता है कि हमारा सही विकास शास्त्र का नहीं वाहन का विकास है।

ऊपर जैसा शस्त्र को लेकर कहा है, कुछ उसी तरह वाहन को लेकर कहा जा सकता है कि मनुष्य की विकास यात्रा बैलगाड़ी से लेकर जेट तक वाहन की विकास-यात्रा के साथ जुड़ी है।

शास्त्र मनुष्य को ऊँचा उठाता हो, वाहन दूर-दूर ले जाता है और तीव्र गति से ले जाता है। अतः हमारा विकास वह है जो हॉरिजेंटल है, वह नहीं जो वर्टिकल है।

इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है हमारा विकास वह जो विज्ञान दौड़ता है वह नहीं जो ज्ञान चढ़ता है।

अब विकास के तीसरे बिंदु पैसा पर आएँ। अंतिम पर अग्रिम। अग्रिम इस मायने में कि पैसा अपनी तासीर में शस्त्र भी है वाहन भी है। पहले दुनिया पैदा हुई, फिर आदमी और इसके बाद पैसा। पर पैसा इन दोनों से ऐसा आगे बढ़ गया कि आज पैसा ही दुनिया है, पैसा ही आदमी है। बल्कि इससे भी बढ़कर आगे कहा जा सकता है कि पैसा भगवान है।

पर क्या बताएँ विकास में पैसा भगवान नहीं शैतान है। काला पैसा, भ्रष्ट पैसा, शोषित पैसा इस शैतान के अत्यंत भयानक रूप हैं। भयानक जैसा अजगर का होता है जो बड़ी-से-बड़ी सत्ता को भी सहज निगल जाता है अथवा उसे मरोड़कर रख देता है।

लोकतंत्र का शासन लोक के नाम इसी शैतान का शासन होता है।

शिक्षा, खेल, इलाज, न्याय, कला, धर्म सभी में पैसे का ऐसा बोलबाला कि आज यदि तुलसीदास होते तो कहते 'सबहि नचावत दाम गुसाई'। डॉक्टर, वकील, मंत्री, शिक्षक, धर्मगुरु आदि सब वेइंग मशीन जैसे बन गए हैं जिसमें पैसा डालने पर हरकत पैदा होती है। इस तरह हमारा विकास चेतन से जड़ की ओर गतिमान है। यही कारण है कि पैसा-संस्कृति बंद फाटक संस्कृति है जो जड़ पैसे के लिए ही 'खुल जा सिमसिम है' चेतन आदमी के लिए नहीं।

विकास में पैसे का मालिक घोड़े पर सवार जैसा है गति और ताकत वाले घोड़े पर। इस घोड़े की लगाम आदमी की है, चाबुक आदमी का और क्या बताएँ चना-चारा भी आदमी का ही है। हाँ, गंतव्य आदमी नहीं है। इस घोड़े का गंतव्य घोड़ा ही है अन्य घोड़ा।

विकास में से कई सवाल पैदा होते हैं। मैं यहाँ सौ सवाल का बस एक सवाल करना चाहूँगा शील, शक्ति और सौंदर्य को लेकर जिनका स्वरूप उस ईश्वर में समाया हुआ

है जिसमें विकास विश्वास नहीं करता, बल्कि कहें कि वह ईश्वर का निषेध करता है। विकास का ईश्वर विज्ञान जो है।

मेरा सवाल है क्या विकास ने ईश्वर का निषेध कर समाज के शील, शक्ति और सौंदर्य को बिखेरकर नहीं रख दिया? यह सवाल इसलिए प्रश्न-शिरोमणि है कि शील, शक्ति, सौंदर्य समाज की आत्मा हैं।

ईश्वर तो मूल्य है, सो ईश्वर में विश्वास मूल्यों में विश्वास है। अतः विकास में आप ही यह जिज्ञासा पैदा होती है कि क्या विकास का प्रतिरूप विज्ञान ईश्वर को उखाड़कर उसके स्थान पर ऐसा कुछ खड़ा कर पाया है जिसकी गवाही में हम मूल्यों के प्रति जवाबदेह हों।

ईश्वर मिथ है पर मूल्य तो नहीं, मूल्य को सहेजने वाली संस्कृति तो नहीं। मिथ में मूल्य के प्रति आस्था जगानेवाली जो शक्ति है वह तर्क में क्यों नहीं है, उस तर्क में जो मिथ का निषेध कर विज्ञान ने विकास के नाम पर पैदा किया है।

शक्ति की कुरूपता कि हमें हिरोशिमा और नागासाकी खाक हो जाते दिखाई देते हैं।

शक्ति की मूल्यहीनता कि बाजार हो या अस्पताल, शासन हो या न्याय सर्वत्र सामान्य आदमी हिरोशिमा और नागासाकी की नियति को प्राप्त है।

शक्ति का शील ऐसा मरणप्राय हो गया है कि नहीं सोचता ऊँची इमारतों की कतार के साथ उसके समांतर झोपड़पट्टी का कछार क्यों पैदा होता जाता है?

सौंदर्य की चरित्रहीनता कि वह कला में नंगा होकर नाचता है।

नंगी पुस्तकों, नंगी फिल्मों, नंगी अदाओं का खूब बोलबाला है। बगीचे के महकते फूलों का नहीं नंगी टहनियों का। जवाबदेही ही नहीं है तो फिर डर काहे का!

मैंने 'विकास' नाम का एक पथनाट्य देखा था उसे यहाँ प्रस्तुत कर मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ। इस पथनाट्य में स्टेज महत्त्वपूर्ण था जिसकी सजावट की चीजें कहीं खोके की, कहीं थर्माकोल की तो कहीं बाँस की बनी हुई थीं। इसमें छोटे-मोटे विंग थे, परदे थे, बैनर थे।

नाटक जब शुरू होता है तो स्टेज पर लोगों को प्रत्यक्ष रूप में विकास दिखाई देता है। साबुन-शैंपू, टीवी-फ्रिज, कार-जेट, मोबाइल-कंप्यूटर, बल्ला-गेंद, क्रिकेट खिलाड़ियों-फिल्मी एक्टरों के चित्र, हम सब एक हैं, स्वतंत्रता-समानता भ्रातृभाव, मेरा देश महान् के बैनर, अब्दुल कलाम आजाद, महात्मा गाँधी, बाबासाहब आंबेडकर के पोस्टर चित्र आदि से स्टेज पर एक ऊँची और भव्य दीवार-सी खड़ी है।

स्टेज पर दो पात्र खड़े होते हैं। एक लड़का सूट-बूट टाई में और दूसरी लड़की है स्कर्ट में, सिर के बाल बॉबकट में। आने पर दोनों इस तरह बातें करते हैं कि स्टेज की चीजों का परिचय प्राप्त होता है।

लड़का लड़की को अपने बारे में बताते हुए कहता है कि मेरा बाप गाँधी का अनुचर था। पक्का हिंदी, चरखा और बकरीवादी, पर उसने मुझे अमरीका भेजा पढ़ने के लिए कि मैं वहाँ से देश के लिए अंग्रेजी, मशीनी तकनीक और बुलडॉग ले आऊँ। बुलडॉग इसलिए कि वह देशीपन पर भौंकता रहे। बुलडॉग से जहाँ हमारे विदेशीपन की रक्षा होती है वहाँ हमारे बंगले और व्यक्तित्व की शान भी बढ़ती है।

लड़की अपने परिचय में बताती है कि मेरे पिता 'जय जवान जय किसान' का नारा देने वाले लालबहादुर शास्त्री के अनुचर थे। एक किसान। मैं धरती की बेटी हूँ। मेरा नाम सीता था। मेरे पिता ने सोचा धरती की बेटी सीता का मेरी ही धरती में कोई भविष्य नहीं है, सो उन्होंने मुझे सीता से रीता बनाने के लिए इंग्लैंड भेज दिया। पूरा शरीर ढकने वाली साड़ी की सीता मैं सिफर थी, आज इस अधनंगे शरीरवाली स्कर्ट की रीता मैं सौ बन गई हूँ। ऐसी सौ कि तुम मेरे पीछे पागल हो। लड़का कहता है, मैं पागल जरूर हूँ पर बिना दहेज के शादी नहीं करूँगा। लड़की दहेज के नाम पर उसे अँगूठा दिखाती है। इससे नाराज होकर लड़का लड़की को धक्का देता है। लड़की स्टेज की दीवार से टकराती है। दीवार ताश के महल जैसी ढह जाती है।...

दीवार के पीछे का दृश्य सामने आता हैझोपड़पट्टी का, भूख-रोग-अभाव-बेरोजगारी से बिलबिलाते स्त्री-पुरुष-बच्चों का।

## धर्म-दर्शन का स्वरूप

श्रीप्रकाश दुबे\*

धर्म-दर्शन, जिसे अंग्रेजी में 'फिलॉसफी ऑफ रिलिजियन' कहते हैं, धर्म का दार्शनिक विश्लेषण करता है। 'धर्म' शब्द से यहाँ तात्पर्य किसी विशेष धर्म से नहीं है, वरन् विश्व के प्रमुख धर्मों के सर्वनिष्ठ सिद्धांतों तथा उनसे जुड़े प्रत्ययों या अवधारणाओं से है। 'दर्शन' शब्द से यहाँ तात्पर्य है किसी विषय का वस्तुनिष्ठ, बौद्धिक तथा वैज्ञानिक विवेचन। धर्म को हम अंग्रेजी में प्रायः 'रिलिजियन'<sup>1</sup> तथा दर्शन को 'फिलॉसफी' शब्द से अनूदित करते हैं। इस प्रसंग में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु सामान्यतया व्यवहार में यही प्रचलित है। पिछली सदी के छोटे दशक के मध्य में मैं जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के भारतीय धर्म तथा दर्शन विभाग में एम.ए. की कक्षा में धर्म-दर्शन विषय पढ़ाने लगा तो कक्षा के एक वयस्क छात्र ने पूछ लिया कि धर्म क्या पढ़ने-पढ़ाने का विषय है। उत्तर स्पष्टतया निषेधात्मक है। धर्म श्रद्धा, आस्था एवं विश्वास तथा व्यवहार का विषय है। धर्म के मूल में श्रद्धा ही है। परन्तु समस्या तब खड़ी होती है जब धर्म व्यक्ति की आस्था से आगे समाज की आस्था या श्रद्धा का विषय बनता है तथा विश्व के मंच पर खण्डन-मण्डन की आवश्यकता होती है। धार्मिक आस्था तथा रहस्यानुभूति का यदि तार्किक या दार्शनिक विश्लेषण न किया जाये तो वह अंधविश्वास की पोटली बनकर रह जायेगी, सांस्कृतिक मंच पर उसकी प्रतिष्ठा नहीं होगी। परिणामतः धर्म का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। किसी जीवंत धार्मिक परंपरा के लिए उसका परीक्षण होते रहना चाहिए। इसीलिए तो महात्मा बुद्ध ने आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले कहा था

*परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्दचो न तु गौरवात्।*

*तापाच्छेदात् च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः॥*

*अंगुत्तर निकाय* तथा शांतिरक्षित कृत *तत्त्वसंग्रह*, कारिका 3588

\* डॉ. श्रीप्रकाश दुबे, पूर्व-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय एवं अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्।

(हे भिक्षुओ! मेरे कथन को गौरव के कारण नहीं वरन् उसका तार्किक परीक्षण करके उसे ग्रहण करो, जैसे स्वर्णकार किसी स्वर्णिम वस्तु को आग में तपाने से, कैंची से काटने से तथा कसौटी (निकष) पर घिसने के उपरान्त संतुष्ट होने पर ही स्वर्ण मानता है)

इस परिप्रेक्ष्य में ऋग्वेद का वह मंत्र भी दृष्टव्य है जिसमें कहा गया है कि वेदों का शाब्दिक अध्ययन करने वाले पुरोहित की तुलना में उनको समझने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है

*सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।*

*अत्रा सरवायः सख्यानिजानन्ते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।।*

*-ऋग्वेद 10,71,2.*

कुरआन मजीद (8/22) में भी बुद्धि को महत्त्व दिया गया है : "कुछ शक नहीं कि खुदा के नज़दीक तमाम जानदारों से बदतर-बहरे गूंगे हैं, जो कुछ नहीं समझते।" हरिभद्र सूरि (विक्रम संवत् 1145-1228) कहते हैं

*पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।*

*युक्तिमत् कथनं यस्य तस्य कार्य परिग्रहः। लोकतत्त्वसंग्रह।*

हमारी परंपरा में सूत्र-भाष्य-वार्तिक-टीका ऐसी ही सहमति-असहमति तथा बौद्धिकता के परिचायक हैं। गुरु-शिष्य परंपरा में भी कहा गया है शिष्यात् पराजयम्।" शिष्य गुरु के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए भी उसके सिद्धान्त से असहमत होता है और अपना मत प्रस्तुत करता है। जब ऐसा होता है तब परंपरा उछाल मारकर आगे बढ़ती है, जैसे अलकनंदा का तीव्र प्रवाह।

मेरी यह मान्यता है कि भारतीय परंपरा के सभी दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदाय धर्म-दर्शन ही हैं। इसकी जो धाराएँ ऐसी नहीं रहीं वे सूख गईं। इसके लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। गौतम बुद्ध और तीर्थंकर महावीर के युग में प्रचलित सम्प्रदाय आजीवक को अब हम केवल इतिहास के विषय के रूप में जानते हैं। अजित केशकंबलिन तथा मक्खलिघोषाल जैसे विचारकों के चिन्तन का आज केवल हम नाम-स्मरण कर सकते हैं। यह सम्प्रदाय चूंकि पूर्णतया भाग्यवादी था, तर्क अथवा बुद्धि का इसमें प्रयोग नहीं हुआ, अतः यह कालान्तर में लुप्त हो गया। दूसरा उदाहरण शुद्ध बौद्धिक परंपरा का है। बौद्ध परंपरा का माध्यमिक दर्शन, जिसके प्रमुख आचार्य नागार्जुन रहे हैं, शुद्ध-बुद्धि पर ही आधारित है। इसमें आस्था या श्रद्धा को लेश मात्र भी स्थान नहीं। इसलिए बौद्धिक धरातल पर सीमांत को छूने के बावजूद इस शून्यवादी परंपरा के अनुयायी केवल इतिहास में ही पाये जाते हैं। यह जीवंत परंपरा नहीं है।

जैसा कि पहले कहा गया है, ईश्वर धर्म-दर्शन का एक प्रमुख विषय है। जैसे कर्मवाद भारतीय धर्म और दर्शन का सामान्य विषय है वैसे ही सामी धर्मों (यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम) की मान्य अवधारणा ईश्वर है। भारतीय धर्म-दर्शन में भी ईश्वर की अवधारणा प्रमुखता से पाई जाती है, यद्यपि कुछ धर्म और दर्शन ऐसे हैं जिन्हें हम अनीश्वरवादी कह सकते हैं। ईश्वर की सिद्धि के लिए भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही परंपराओं में अनेक तर्क दिये गये हैं। ये तर्क ईश्वर को सिद्ध या असिद्ध कर पाते हैं, यह भी विवाद का विषय हो सकता है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये ईश्वर की अवधारणा को समझने में पर्याप्त सहायक हैं।

प्रसिद्ध नैयायिक उदयन ने (984 ई.) ईश्वर की सिद्धि पर *न्याय-कुसुमांजलि* नामक ग्रन्थ लिखा है। ईश्वर-विरोधी मतों का खण्डन करने के पश्चात् वे ईश्वर की सिद्धि के लिए जो तर्क देते हैं वे सभी निम्नलिखित श्लोक में समाविष्ट हैं

*कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।*

*वाक्यात् संख्याविशेषात् च साध्यो विश्वविदव्ययः।।*

*न्यायकुसुमांजलि, 5,1.*

उदयन का प्रथम तर्क 'कार्यात्' निमित्त कारणमूलक है। जगत् कार्य है, ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। द्वितीय तर्क 'आयोजनात्' गतिमूलक तर्क है। परमाणु स्वयं में जड़ होते हैं। उनमें गति प्रदान करने का कार्य ईश्वर का है। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू इस तर्क का प्रयोग करता है तथा वह ईश्वर को unmoved mover कहता है। 'धृत्यादेः' आकस्मिकतामूलक तर्क है। जगत् ईश्वरेच्छा पर आधारित है। ईश्वर जगत् को धारण करता है। 'अदृष्ट' यह कार्य नहीं कर सकता है। जगत् का विनाश भी ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है। चतुर्थ तर्क 'पदात्' सहज वृत्तिमूलक है। पदों के अर्थ होते हैं, जो वस्तु से जुड़े होते हैं। पदों में वस्तुसंकेत की शक्ति ईश्वर से आती है। पांचवां तर्क 'प्रत्ययतः' प्रत्यय सत्तामूलक तर्क है। वेद ईश्वर से उच्चरित वचन हैं। ईश्वर का प्रत्यय ही उसे सिद्ध करता है, यह वेदों के कर्ता से ज्ञात होता है। 'श्रुतेः' धार्मिकतामूलक तर्क है। श्रुति या वेद इसे सिद्ध करते हैं। *वेदान्त सूत्र* का तृतीय सूत्र कहता हैशास्त्रयोनित्वात्। परमतत्त्व के ज्ञान का मूल स्रोत शास्त्र है। सातवां तर्क 'वाक्यात्' नैतिकतामूलक तर्क है। वेदवाक्य विधिनिषेधात्मक कथन कर हमें कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराते हैं। ईश्वर कर्माध्यक्ष है। अंतिम तर्क 'संख्या विशेषात्' गुणभेदमूलक तर्क है। द्व्यणुक का आकार दो अणुओं के पारिमाण्डल्य से उत्पन्न नहीं होता है। संख्या की अवधारणा ईश्वरोत्पन्न है।

पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर की सिद्धि के लिए जो तर्क दिये जाते हैं, उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं

**1. सृष्टिमूलक तर्क** ग्रीक दार्शनिक अरस्तू इसके प्रारंभिक प्रतिपादक हैं। मध्ययुगीन संत थामस एक्विनस (1224-1274) अपने ग्रन्थ *सुम्मा थियोलोजिका* में इस तर्क के तीन भेद करते हैं गतिमूलक, कारणतामूलक तथा आकस्मिकतामूलक।

आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिक डेविड ह्यूम (1711-1776) कारणता का जोरदार खण्डन करते हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (3,1) में "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते..." इसी तर्क का प्रारंभिक भारतीय रूप है जिसे *वेदान्त-सूत्र* का द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' संक्षेप में प्रस्तुत करता है। *छान्दोग्य उपनिषद्* (III-14-1) में भी इसका संक्षिप्त रूप मिलता है 'तज्जलान्'। एक्विनस ईश्वर-सिद्धि के लिए अपने ग्रन्थ में जो पांच तर्क देते हैं, उनमें से चौथा तर्क श्रेणी या सोपानमूलक तथा मूल्यपरक तर्क है। हम अपने जीवन में न्यूनाधिक मूल्यों की चर्चा करते हैं। ईश्वर चरम या पूर्ण में मूल्य है। वह सभी क्रमों का सीमांत है। इस तर्क को विश्वकारणमूलक (Cosmological) तर्क भी कहा जाता है। वेदान्त सूत्र (II, 3.9) कहता है असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः अर्थात् सत् की उपत्ति संभव नहीं है। शंकराचार्य इसके भाष्य में *छान्दोग्य उपनिषद्* (VIII, 7.1) को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती। उन्होंने श्वेताश्वतर उपनिषद् (VI, 9) को भी उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि 'वह' कारण है इन्द्रियों के अधिपों का, वह जीवों का अधिप है। उसका कोई जनक या अधिप नहीं हो सकता। वह मूल प्रकृति है, वह ब्रह्म है। वेदान्त सूत्र (I, 4.5)के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर ही इस विश्व का कारण हो सकता है।

**2. प्रयोजनमूलक तर्क** प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइजक न्यूटन (1642-1727) इस तर्क को स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक *प्रकृति दर्शन तथा गणितीय सिद्धान्त* (Philosophiae Naturalis Principia Mathematica) में कहा है कि सूर्य इत्यादि ग्रहों से युक्त यह वैश्विक व्यवस्था केवल एक ऐसी सत्ता से ही उत्पन्न हो सकती है जो बुद्धिमान तथा शक्तिमान हो। ग्रहों के बीच आकर्षण शक्ति के कारण जो परिक्रमा होती है वह ईश्वर प्रयोजनमूलक विचार को सिद्ध करती है। विलियम पैली (1743-1805) का यह प्रसिद्ध तर्क है। इसे उन्होंने 1802 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *नेचुरल थियोलॉजी* में प्रस्तुत किया है। इसे रचनामूलक या शिल्पकार-तर्क भी कहते हैं जो घड़ी तथा घड़ीसाज के उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है। आँख की बनावट से भी ईश्वर की कला का बोध होता है। *वेदान्त-सूत्र* (2,2,1) सांख्य की जड़ प्रकृति की जगत्-कारणता का खण्डन करते हुए कहता है कि जगत् में रचना दिखती है जिसकी उपपत्ति अनुमान द्वारा सिद्ध जड़ प्रकृति से सम्भव नहीं है रचनानुपपत्तेश्च नाऽनुमानम्। चार्ल्स डार्विन (1809-1882) का विकास-सिद्धांत इस तर्क का स्पष्ट विरोध करता है। वेदान्त सूत्र (II, 3.17) पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि ईश्वर के जो विशेषण दिये जाते हैं उसके अनुसार जगत् की उस विशिष्ट ईश्वर के अतिरिक्त अन्य से उत्पत्ति की संभावना नहीं हो सकती।

**3. सत्तामूलक तर्क** पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो ने सर्वप्रथम इसका प्रतिपादन किया है। मध्य युगीन संत एन्सेल्म (1033-1109) अपने ग्रन्थ *प्रोस्तोजियन* में इसे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार ईश्वर यदि महानतम सत्ता है तो उसे

न केवल विचार-रूप में वरन् यथार्थ रूप में होना चाहिए। ईश्वर से महान् किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। एन्सेल्म के इस तर्क के उनके ग्रन्थ में प्रकाशित होने के शीघ्र ही बाद सर्वप्रथम उनके समसामयिक फ्रांसीसी पादरी/फकीर गॉनिलो ने इसका खण्डन किया। इसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'ए बुक ऑन बिहाफ ऑफ ए फूल' में प्रस्तुत किया है। गॉनिलो के अनुसार किसी अति सुन्दर द्वीप की कल्पना से उसके अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती। कोपल्टन, एन्सेल्म की ओर से उत्तर देने का प्रयास करते हुए कहते हैं<sup>2</sup> कि सुन्दरतम द्वीप का विचार और उसके अस्तित्व में कोई विरोध नहीं है। परन्तु यदि ईश्वर को अनिवार्य सत्ता की संभावना माना जाये और वह न हो तो यह परस्पर विरोधी होगा। संत थामस एक्विनस एन्सेल्म के तर्क को प्रत्यक्षतः जाने बिना कहते हैं कि एन्सेल्म एक स्वयंसिद्ध ईश्वर के लिए तर्क देते हैं। जर्मन विद्वान् इमेनुअल कान्ट (1724-1804) इस तर्क के सर्वाधिक प्रसिद्ध आलोचक हैं। इमेनुअल कान्ट कहते हैं कि विचार मात्र से किसी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। वे 100 डालर (या जर्मन मुद्रा मार्क) का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि 100 डालर का विचार मेरे मन में होने से वे 100 डालर हमारी जेब में नहीं आ जाते। परन्तु उनकी आलोचनाएँ एन्सेल्म के तर्क के विरुद्ध न होकर लाइबनिज (1646-1716) के मत के विरुद्ध हैं। लाइबनिज ईश्वर को शुद्ध वास्तविकता (pure actuality) मानते हैं। ईश्वर एक ऐसा चिदणु है जिसमें सभी संभावनाएँ वास्तविक हो जाती हैं। स्विस विचारक कार्ल बार्थ (1886-1968) सत्तामूलक तर्क को आस्था का विस्तार मानते हैं। आधुनिक यूरोपीय दर्शन के जनक रेने देकार्त (1596-1650) का कहना है कि हमारे मन में पूर्ण ईश्वर का विचार है। इसका कारण ईश्वर ही होना चाहिए। समसामयिक दर्शन में अमेरिकी विद्वान् चार्ल्स हार्टशार्न (1897-2000) एन्सेल्म के तर्क का मानक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

योग दर्शन में इस तर्क का भारतीय संस्करण मिलता है। पतंजलि के योगसूत्र (I,25) में ईश्वर को निरतिशय कहा गया है। ईश्वर से बढ़कर यदि कोई वस्तु हो तो ईश्वर सातिशय हो जायेगा। जिससे बढ़कर कोई वस्तु न हो वह निरतिशय है। ईश्वर में ज्ञान, धर्म, वैराग्य, यश और ऐश्वर्य आदि की पराकाष्ठा है। वह सभी पराकाष्ठाओं का आधार है। योगसूत्र के व्यासभाष्य तथा भोजवृत्ति में इस परिभाषा की विस्तृत चर्चा की गई है। सर्वज्ञता का बीज ईश्वर में निरतिशयता प्राप्त करता है। विज्ञानभिक्षु निरतिशयता का अपने योगवार्तिक में इस प्रकार अर्थ करते हैं

यत्सातिशयजातीयं ज्ञानं तत् तत्रेश्वरे निरतिशयमित्यर्थः ॥

शंकराचार्य (788-820 ई.) भी इस तर्क का तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य (II-8-4) में प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं: "यत्रैत आनन्दभेदा एकतां गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमित्तो ज्ञानं च तद्विषयमकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र स एष हिरण्यगर्भो..."।

वायुपुराण में विभु महेश्वर के छः अंग बताये गये हैं

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।  
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरंगानि महेश्वरस्य ॥

उपनिषद् का सुप्रसिद्ध मंत्र भी इस तर्क को सम्पुष्ट करता है

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमिवावशिष्यते ॥

**4. श्रुतिमूलक तर्क** इस तर्क के अंतर्गत धर्मग्रन्थों के रचयिता के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। वेदान्त-सूत्र (1.3) कहता है कि ईश्वर शास्त्रों का रचयिता है। चूंकि शास्त्र अतीन्द्रिय विषयों से सम्बद्ध हैं अतः कोई व्यक्ति या व्यक्तिसमूह उनका लेखक नहीं हो सकता है। पुनश्च, शास्त्र ईश्वर को सिद्ध करते हैं वे आप्त वचन हैं 'शास्त्र योनिव्यात्'।

**5. नैतिकतामूलक तर्क** इस तर्क के अंतर्गत यह माना जाता है कि समाज में नैतिकता के लिए ईश्वर अनिवार्य है। हम जो कर्म इस जीवन में करते हैं उसका फल कभी पाते हैं, कभी नहीं। अपने कर्मफल के व्यवस्थापन के लिए हम स्वयं जिम्मेदार नहीं हो सकते। अतः ईश्वर को नैतिकता की व्यवस्था के लिए आवश्यक माना जाता है। इमेनुअल कान्ट की यह स्पष्ट मान्यता है कि यदि ईश्वर तथा अमृतत्व को न माना जाये तो समाज में नैतिकता का कोई आधार नहीं रहेगा। अतः उनके अनुसार ईश्वर एक नैतिक अभ्युपगम है। कर्मवाद इसी तर्क का भारतीय स्वरूप है जो वैदिकयुग से ही मान्य रहा है। कर्म सिद्धान्त वस्तुतः भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का आधार-स्तम्भ है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारतीय धर्म तथा दर्शन की सभी परंपराएँ इसे स्वीकार करती हैं। क्षणिकवाद को मानते हुए भी बौद्ध धर्म-दर्शन इसे पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म के प्रसंग में स्वीकार करता है। यह सिद्धान्त कारणवाद पर आधारित है। पाश्चात्य परंपरा में भी युगान्त-विज्ञान (eschatology) के आधार पर भावी अवधि में ईश्वर की अनुभूति संभव मानी जाती है।

ईश्वरवादी परंपराएँ यह मानती हैं कि ईश्वर को यदि न माना जाये तो वैषम्यनैर्घृण्य प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अर्थात् जो काम हमने नहीं किया है उसके लिए हम जिम्मेदार माने जा सकते हैं और जो कार्य हमने किया है उसके लिए अनुत्तरदायी। इसी विषमता को समाप्त करने के लिए ईश्वर की कर्माध्यक्ष के रूप में आवश्यकता पड़ती है। भारतीय परंपरा के जो सम्प्रदाय ईश्वर को नहीं मानते हैं उनमें कर्म के फल को नष्ट करने के लिए नैतिक आचरण पर ज्यादा बल दिया जाता है। जैन दर्शन में कर्म को पौद्गलिक माना जाता है। यह केवल भावात्मक न होकर यथार्थ है। आत्मा से इसके सम्पर्क को समाप्त करने के लिए, जिसे निर्जरा कहा जाता है, पंचव्रतों की आवश्यकता होती है। बौद्ध दार्शनिक चन्द्रकीर्ति (माध्यमिकवृत्ति, पृ. 565) में कहते हैं "पुनर्भवजनकं कर्म"। कर्म पुनर्जन्म का कारण है। अमेरिकी दार्शनिक इलियट ड्युच कर्म को भारतीय परंपरा

की सुविधाजनक कल्पना (convenient fiction) मानते हैं।<sup>1</sup> ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरस (ई.पू. 532) जन्मान्तर (palingenesia) को स्पष्ट रूप से मानता था। एम्पेडाक्लीज (495-435 ई.पू.) भी कर्म तथा जन्मान्तर के सिद्धान्तों में विश्वास करता था। वस्तुतः ग्रीक दर्शन और आधुनिक जर्मन चिंतन के अतिरिक्त सम्पूर्ण पाश्चात्य परंपरा में कर्मवाद जैसा कोई सिद्धान्त नहीं पाया जाता।

आत्मा धर्म-दर्शन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय है। भारतीय परंपरा में तो इसकी महत्ता अत्यन्त व्यापक है। उपनिषदों में आत्मा को ब्रह्म माना गया है 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उपनिषद्, 2)। इसी आत्मा का दर्शन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से किया जाना चाहिए। बौद्ध दर्शन का स्पष्ट विधान है 'आत्मदीपो भव'। उपनिषद् की परंपरा इसे 'आत्मानम् विद्धि' कहती है। भारतीय परंपरा में आत्मा की सिद्धि का सबसे प्राचीन प्रयास जैन दर्शन में मिलता है। विशेषावश्यक भाष्य (1557) में भगवान् महावीर गणधर गौतम से कहते हैं कि यदि संशयी ही नहीं तो मैं हूँ या नहीं हूँ, यह संशय कहाँ से उत्पन्न होता है। पुनः, आत्मा के ज्ञानादि गुणों का अनुभव गुणी आत्मा को सिद्ध करता है (विशेषावश्यक भाष्य, 1558)। सांख्यकारिका (17) में पुरुष या आत्मा की सिद्धि के लिए तर्क दिये गये हैं

संघात् परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।  
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।।

शंकराचार्य वेदान्त सूत्र भाष्य (II-3-7) में कहते हैं कि निराकर्ता का निषेध संभव नहीं "य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।" आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में रेने देकार्त इसी तर्क को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं मैं चिंतन करता हूँ, अतः मैं हूँ। वस्तुवादी डेविड ह्यूम चेतना का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर पाता है अतः इसे प्रत्ययों का बंडल कहता है। बौद्ध दर्शन शाश्वत आत्मा का निषेध करता है परन्तु पुनर्जन्म के लिए कर्मफलवाहक के रूप में प्रवहमान चेतना का निषेध नहीं करता। चार्वाक दर्शन इसे महाभूतों का परिणाम मानता है। इसे वह पान के उदाहरण से समझाने का प्रयास करता है। पान के पत्ते में चूना, सुपारी और कत्था मिलाने पर उसे चबाने से जैसे मुँह लाल हो जाता है, वैसे ही महाभूतों के एक विशेष सम्मिश्रण से चेतना उत्पन्न होती है तथा महाभूतों के विखण्डन से वह समाप्त हो जाती है।

चेतना या आत्मा जब शरीर से युक्त होती है तो उसे हम जीव कहते हैं। अपने अज्ञान या कर्म के बंधन से मुक्त होने पर जीव अपने ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। अपने इसी स्वरूप की प्राप्ति को 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' कहते हैं। इसे प्रत्यभिज्ञा भी कहा जाता है। इसी स्थिति को मोक्ष भी कहते हैं।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो व्यक्ति प्रयासरत होता है उसे मुमुक्षु कहा जाता है। मुमुक्षु के लिए संन्यास आश्रम सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है। परन्तु संन्यास एक वृत्ति है जो किसी वय के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध नहीं है। यह मनुष्य के जीवन में

किसी भी वय में उत्पन्न हो सकती है, आवश्यक नहीं कि चतुर्थाश्रम में ही यह उत्पन्न हो। कालिदास कुमारसम्भवम् में स्पष्ट कहते हैं 'न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते'। आदिशंकर ने बचपन में ही संन्यास ले लिया। गौतम बुद्ध युवावस्था में प्रव्रजित हुए। जनक-याज्ञवल्क्य संवाद के माध्यम से जाबाल उपनिषद् कहता है ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ होना चाहिए, गृही होने के बाद वनी होना चाहिए, वानप्रस्थ के उपरान्त प्रव्रजित होना चाहिए। यदि वीतरागी हो जाये तो ब्रह्मचर्य या गृहस्थ या वानप्रस्थ कहीं से भी संन्यास लिया जा सकता है। वह व्रती हो या अव्रती, स्नातक हो या अस्नातक, जिस किसी दिन उसे विराग उत्पन्न हो जाए उसी दिन वह संन्यास ले सकता है "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।" संन्यास के लिए अनुमति की अपेक्षा होती है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नियों से अनुमति लेते हैं और शंकराचार्य अपनी माता से। परन्तु सिद्धार्थ अपनी पत्नी से अनुमति लिये बिना प्रव्रज्या ग्रहण करने घर से निकल जाते हैं।

मोक्ष त्रिवर्ग-पालन से मिलता है, यह सामान्य धारणा है। परन्तु अद्वैत वेदान्ती बंधन को चूँकि आविद्यक मानते हैं अतः धर्म (कर्म) मोक्ष के लिए आवश्यक नहीं 'ततश्च मोक्षो भ्रममात्र संक्षयः'। गीता नैष्कर्म्य से मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। योगी निर्विकल्पक समाधि से कैवल्य प्राप्त करता है। जैन दर्शन में दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र मोक्ष-मार्ग के त्रिरत्न बताये गये हैं। भक्तिमार्गी ईश्वर की भक्ति तथा अनुग्रह मोक्ष के लिए आवश्यक मानते हैं।

रामानुजीय वैष्णव वेदान्त में भक्ति तथा प्रपत्ति में अंतर किया गया है। भक्ति में ईश्वर तथा भक्त के बीच भेद बना रहता है। भक्त को कर्म भी करने होते हैं। प्रपत्ति में शरणागति पर्याप्त है। परन्तु यहाँ भी इसके दो भेद हैं। वेंकटनाथ (1268-1369), जिन्हें वेदान्तदेशिक या वेदांताचार्य भी कहा जाता है, ने उत्तरापथ (वड़कलै मत) की स्थापना की जिसके अनुसार भक्त को किंचित् कर्म करना आवश्यक है। ये मर्कट-न्याय का अनुसरण करते हैं जिसके अनुसार बंदर के बच्चे को माँ के पेट से चिपके रहना आवश्यक होता है। पिल्लई लोकाचार्य (13वीं शताब्दी) मार्जार-मत का अनुसरण करते हैं। इसे दक्षिणापथ (टेंकलै मत) कहा जाता है। इसमें भक्त को कुछ भी करना नहीं पड़ता। जैसे बिल्ली अपने बच्चे को अपने मुँह में दबाकर ले जाती है, उसी तरह से ईश्वर भक्त का ध्यान रखता है। इनका मत पूर्णतया तमिलसाहित्य पर आधारित है और यह आलवार संतों की परंपरा है। रविन्द्रनाथ ठाकुर भी कुछ ऐसा ही कहते हैं जिसके अनुसार वे मार्जार-न्याय की ओर झुके प्रतीत होते हैं। वे ईश्वर को माँ जैसा मानते हैं। माँ का ही यह दायित्व होता है कि वे अपने बच्चे को आग की ओर जाने से बचावे। संत कबीर के गुरु रामानन्द (15वीं शताब्दी का मध्य) इस प्रसंग में विशिष्ट हैं। आनन्दभाष्य में उनका कथन है कि ईश्वर तो सभी को मोक्ष देता है, चाहे कोई उसकी शरण में आवे या न आवे। उनके अनुसार अनीश्वरवादी भी ईश्वर की कृपा के पात्र हैं। इसी में तो ईश्वर का ऐश्वर्य है। लायक अथवा नालायक सभी मुक्ति के

अधिकारी होते हैं। दाक्षिणात्य शैव दर्शन में क्रिया एवं चर्या से ही ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है। अनुग्रह के बिना दीक्षा नहीं होती और दीक्षा के बिना मोक्ष नहीं होता। यहाँ अशुभ को भी ईश्वर का अनुग्रह माना जाता है। शिव के पंचकृत्यों में सृष्टि, स्थिति तथा संहार के अतिरिक्त तिरोभाव (तिरोधान) तथा अनुग्रह सम्मिलित हैं। भक्त जब दुःख भोगता है तब उसके शरीर और मन की शुद्धि होती है। शैव दर्शन में धोबी का उदाहरण दिया जाता है। गाँव का धोबी जब कपड़ा धोता है तो रेह और गधे की लीद डालकर कपड़े को नाद में सड़ाता है और फिर घाट पर पत्थर की पाटी के ऊपर उसे पटक-पटककर धोता है जिससे वस्त्र निर्मल हो जाता है।

अशुभ की समस्या पाश्चात्य परंपरा में बहुत चर्चित है। यदि ईश्वर (GOD-Generator, Operator, Destroyer) सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है तथा साथ ही करुणामय है तो उसे अशुभ को जन्म लेते ही नष्ट कर देना चाहिए। ईश्वर प्राकृतिक अशुभ (भौतिकभूकम्प एवं जैविक-सर्पदंश इत्यादि) को भी टाल सकता है। परन्तु नैतिक अशुभ (व्यक्तिगत एवं सामूहिक) में मनुष्य ऐसी स्वतंत्रता का प्रयोग करता है कि वह नैतिक या अनैतिक कार्य कर सके। इसके लिए मनुष्य ही जिम्मेदार है। पारसी धर्म में तो ईश्वर और अशुभ के मध्य संघर्ष में मनुष्य ईश्वर का सहयोगी होता है।

भारतीय परंपरा में कर्मवाद शुभाशुभ की व्याख्या करता है। परन्तु मोक्ष तो शुभ और अशुभ दोनों से ही परे जाने पर मिलता है। *भगवद्गीता* (XII,17) में कहा गया है 'शुभाशुभ परित्यागी...'। हमारी सीमित बुद्धि के कारण कुछ घटनाएँ शुभ लगती हैं और कुछ अशुभ। परन्तु ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। तमः प्रकाशवत्। व्यापक दृष्टि में सब कुछ सामान्य है। उदासीन एवं परमहंस की दृष्टि ऐसी ही होती है।

धर्म-दर्शन में धार्मिक भाषा का भी अध्ययन एक आवश्यक विषय है। धार्मिक कथन सामान्य कथनों से भिन्न होते हैं। अतः इनका अर्थ समझने के लिए श्रुत्यर्थपर्यालोचना (हर्मन्यूटिक्स) का उपयोग करना होता है। शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ भागत्याग-लक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) के सहारे करता है। पाश्चात्य परंपरा के आधुनिक काल में सत्यापन तथा मिथ्यापन के सिद्धान्त प्रचलित हैं। परन्तु धार्मिक कथन सामान्य अर्थ में न तो सत्यापित हो सकते हैं, न ही मिथ्यापित।

एन्थोनी जी.एन. फ्ल्यू (1923-2010) इस प्रसंग में एक द्वन्द्व प्रस्तुत करते हैं। कोई धर्मशास्त्रीय कथन या तो निरर्थक है, क्योंकि यह अमिथ्यापनीय है अथवा निरर्थक है अतः तथ्यतः मिथ्यापनीय। वे जंगल के बगीचे तथा अदृश्य माली का उदाहरण देते हैं। आर.एम. हेयर (1919-2002) ब्लिक सिद्धान्त (प्रतीति) के माध्यम से इस द्वन्द्व से निकलना चाहते हैं। 'ब्लिक' शब्द का यहाँ एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्य है ऐसी वृत्ति जो तथ्यात्मक एवं तर्कसंगत न होकर भी वैचारिक तथा चारित्रिक रूप से प्रभावपूर्ण हो। हेयर के अनुसार धार्मिक

व्यक्ति कथन नहीं करता, वरन् ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करता है जो उसके जीवन का आधार होता है। यहाँ धार्मिक भाषा असंज्ञानात्मक होती है। ब्लिक (blik) के अनुसार ही व्यक्ति अपने अनुभवों की व्याख्या करता है। ब्लिक के बिना कोई व्याख्या संभव नहीं। ब्लिक सिद्धान्त कथन की अपेक्षा अधिक आधारभूत है। बेसिल जी. मिचेल (1917), आई.एम. क्राम्बी (प्रसिद्ध प्लेटोवादी लेखक) तथा जॉन एच. हिक (1922) भी एन्थोनी फ्ल्यू का खण्डन करते हैं। हिक के अनुसार ईश्वरशास्त्र (थियोलॉजी) का मिथ्यापन संभव नहीं। इसका सत्यापन युगान्त-विज्ञान द्वारा संभव है।<sup>4</sup>

धर्म-दर्शन के स्वरूप की इस चर्चा का समापन करते हुए कुछ बिन्दुओं को रेखांकित किया जा सकता है। विश्व के प्रमुख धर्मों में धार्मिक अनुभूति सार्वजनीन है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति भी अनिवार्य है परन्तु यह अनुभूति देशकाल के अनुसार विभिन्न रूप लेती है एक सत् विप्राः बहुधा वदन्ति। धर्म की तुलना में दर्शन की सार्वभौमिकता अधिक मानी जाती है। धर्म ईश्वर को प्रतीकों एवं कल्पनाओं के माध्यम से समझने का प्रयास करता है जबकि दर्शन इसे प्रत्ययों या अवधारणाओं के माध्यम से समझना चाहता है। सत्य के रूप में ईश्वर दार्शनिक बोध तथा धार्मिक आकांक्षा या अभिलाषादोनों का लक्ष्य है। दर्शन एवं धर्म का परस्पर संवाद यह दिखाता है कि धर्म को सब कुछ प्राप्त नहीं हो सकता तथा दर्शन को सब कुछ का ज्ञान नहीं हो सकता। अंधे और लंगड़े की भांति दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। रास्ता लंबा है, दोनों में परस्पर सहयोग की आवश्यकता एवं अपेक्षा है। धर्म-दर्शन का मोटे तौर पर यही स्वरूप है।

## संदर्भ

1. देखिए, दुबे, एस.पी., On Religion, New Bharatiya Book Corporation, Delhi, 1998.
2. Copleston, F., A History of Philosophy, Vol. II, Part I, New York, 1962, p. 185.
3. 'Karma as a Convenient Fiction in Advaita Vednta', JI. Philosophy East and West, Hawaii, vol. XV.1, (Jan., 1965).
4. देखिए, Mitchell, B, The Philosophy of Religion, Oxford University Press, 1971- Essay: 'Theology and Falsification – A Symposium' by Flew, Hare and Mitchell.



## बंकिम चंद्र चटर्जी और सांस्कृतिक विमर्श : 'आनंद मठ' का पुनर्पाठ

सुधीर कुमार\*

### प्रस्तावना

प्रस्तुत आलेख में बंकिम चंद्र चटर्जी (1838-1894) के सांस्कृतिक विमर्श के कुछ उन बिंदुओं/स्थापनाओं पर विचार किया जाएगा जिनकी आधुनिक भारतीय साहित्य-सैद्धांतिकी की सांस्कृतिक समीक्षा में 'सांप्रदायिक विमर्श' या 'हिंदुत्व विमर्श' के रूप में चर्चा होती है और आश्चर्यजनक सत्य यह भी है कि बंकिम चंद्र चटर्जी पर इन तथाकथित (अ)सत्यों का जो समीक्षक/लेखक/बुद्धिजीवी आरोपण करते हैं वे पाठकों या भारतीय समाज के नागरिकों के समक्ष इस तथ्य को नहीं बताते या स्वीकार करते हैं कि स्वयं उनका बंकिम के कृतित्व का अध्ययन कितना अल्प, पूर्वाग्रह-ग्रस्त एवं आलोचनात्मक दृष्टि से हास्यास्पद है। बंकिम चंद्र चटर्जी के बहुचर्चित उपन्यास 'आनंदमठ' (1882) के समीक्षात्मक विश्लेषण के माध्यम से, इस लेख में, बंकिम चंद्र के सांस्कृतिक-विमर्श से संबंधित जो दुष्प्रचार भारतीय सांस्कृतिक विमर्श में लगातार किया जा रहा है। उसके कारणों का तथा उसकी राजनीतिक अवसरवादिता का भी संक्षिप्त रूप में अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। 'आनंदमठ' (1882) का चुनाव इसलिए किया गया है क्योंकि इसके कथानक में ही भारत का राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' अंतर्निहित है जिसको कि राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्रीय भावना (राष्ट्रीयता), एवं राष्ट्रीय एकता के समग्रतामूलक सांस्कृतिक रूपक के रूप में औपनिवेशिक तथा उत्तर औपनिवेशिक संदर्भों में भारतीय जन-गण-मन (जनमानस) ने ग्रहण किया और स्वतंत्रता और स्वाधीनता के अपने संघर्ष में 'वन्देमातरम्' के सांस्कृतिक पाठ से अद्भुत प्रेरणा और शक्ति प्राप्त की। द्वितीय, 'आनंदमठ' के कथानक को 'मुस्लिम-विरोधी'

\* सुधीर कुमार, प्रोफेसर (अंग्रेजी), पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़-160014, पता: एफ-27, सेक्टर-25, चंडीगढ़-160014; मो. 09876675149

ठहराते हुए तथाकथित सेक्युलर/धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों ने राष्ट्र-गीत के टेक्स्ट (मूल पाठ) तथा कथानक में किए गए मुस्लिम समाज के चित्रण को सांप्रदायिक तथा हिंदुत्ववादी विचारधारा का आदि पाठ माना है और निंदा भी की है।

### बंकिम, 'आनंद मठ' और समग्रतावादी सांस्कृतिक दृष्टि एवं दर्शन

वस्तुतः आनंद मठ की कथा की पृष्ठभूमि और केंद्र में 1770 के दशक में बंगाल में हुए 'संन्यासी विद्रोह' तथा उसके तत्कालीन ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कारण हैं जिनमें बंगाल के शासक वर्ग द्वारा भयानक दुर्भिक्ष के समय (1776) भी जनता का शोषण, ब्रिटिश उपनिवेशवादी ताकतों के समक्ष शासक वर्ग का आत्मसमर्पण, भयंकर आर्थिक तंगी और अकाल के रहते प्रजा और समाज में अराजकता, भूख, गरीबी और अनाचार, शासक वर्ग तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता द्वारा जनता पर किए गए अमानवीय अत्याचारों के विरुद्ध प्रजा में व्यापक असंतोष और विद्रोह इत्यादि प्रमुख हैं। बंकिम चंद्र चटर्जी एक उपन्यास 'आनंद मठ' के माध्यम से 'संन्यासी विद्रोह' तथा उसके लिए उत्तरदायी विभिन्न उपरोक्त कारणों को अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा महेंद्र सिंह, कल्याणी, भवानंद, सत्यानंद, धीरानंद, जीवानंद, शांति जैसे पात्रों के विचार, कर्म एवं बलिदान की भावना द्वारा व्यक्त करते हैं। यहाँ यह भी रेखांकित करना उचित होगा कि उन्नीसवीं सदी के मध्य तथा उत्तरार्द्ध में बंगाल एवं भारत के विभिन्न प्रांतों (प्रदेशों) में जातीयता (राष्ट्रीयता), राष्ट्र की अवधारणा, राष्ट्र प्रेम, सांस्कृतिक चेतना का पुनर्जागरण या प्रस्फुटन हो रहा था। अतः बंकिम चंद्र कृत 'आनंद मठ' (1882) एक रूपक के तौर पर, भारतीय सामूहिक जनचेतना में उद्भूत राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद या राष्ट्रीय चेतना, जिसके मूल में सांस्कृतिक जागृति एवं चेतना का विस्तार है, का बहुलार्थक, बहु-संदर्भी और बहुवचनात्मक पाठ है। प्रश्न यह है कि क्या इस महत्त्वपूर्ण कृति को हिंदू-सांप्रदायिकता का या मुस्लिम-विरोधी भावना का प्रतीक ठहराया जा सकता है? यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि 1857 के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम (जिसे 'सिपाही-विद्रोह' कहा गया) के परिणामस्वरूप परवर्ती दशकों में भारतीय समाज में एक राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद का संचार हुआ जोकि भारत की जनता और साम्राज्यवादी ताकतों के मध्य निरंतर बढ़ते हुए रंगभेदी, सांस्कृतिक और राजनीतिक विद्वेष के कारण और अधिक सुदृढ़ होता गया। 'आनंद मठ' के द्वारा बंकिम चंद्र चटर्जी ने एकता, राष्ट्रप्रेम, सेवा, शौर्य, राष्ट्रीय अस्मिता, अभय और बलिदान जैसे मूल्यों का प्रचार-प्रसार उस समय किया जबकि भारतीय जनता में राष्ट्रवाद और राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हो चुका था, भले ही अपने प्रारंभिक रूप में।

'आनंद मठ' भारतीय राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के जाग्रत और संवर्धित स्वरूप को ही नहीं दर्शाता है, बल्कि अन्यायी, आततायी, शोषणकर्ता शासक वर्ग (चाहे वह

स्थानीय मुस्लिम शासक हों या साम्राज्यवादी ब्रिटिश सत्ता) के विरुद्ध संघर्ष में, औपन्यासिक कृति के अवकाश में, भारतीयों को निःस्वार्थ कर्तव्य-कर्म करने की प्रेरणा एवं वैधता भी देता है। जूलियस जे. लिपनेर ने 'आनंद मठ' के अपने अनुवाद के प्राक्कथन में यह सिद्ध किया है कि संन्यासी-विद्रोह (1776) के औपन्यासिक रूपांतरण के माध्यम से बंकिम चंद्र चटर्जी ने राष्ट्रवाद के भूत, वर्तमान और भविष्य की दशा और दिशा को रेखांकित किया है।<sup>1</sup> यहाँ यह भी स्मरण करना श्रेयस्कर होगा कि 'ओरियंटलिज्म' (एडवार्ड सैद, 1978) की प्रवृत्ति के अनुसार भारतीयों का, भारत का, पश्चिमी सांस्कृतिक, राजनीति, साहित्यिक आख्यानों में एक अविकसित, निर्बल, भ्रष्ट और अंधविश्वासी समाज की तरह वर्णन हो रहा था। 1880 के दशक में 'आनंद मठ' पश्चिमी मानसिकता/कल्पना में स्थित 'भारत' का प्रत्याख्यान है। प्रसिद्ध इतिहासकार सुदीप्त कविराज के अनुसार 'आनंद मठ' की पृष्ठभूमि में पश्चिमी इतिहास-लेखन की वह प्रवृत्ति है जिसके आख्यानों में भारत की घटनाओं और स्थितियों को तथाकथित वैश्विक इतिहास के महाख्यान में इस प्रकार से व्यवस्थित करना है जिससे कि योरोप/ब्रिटेन का भारत पर साम्राज्यवादी नियंत्रण वैश्विक इतिहास की अनिवार्यता प्रतीत हो।<sup>2</sup> बंकिम चंद्र चटर्जी ने 'आनंद मठ' के माध्यम से इस साम्राज्यवादी-वर्चस्ववाद द्वारा प्रायोजित इतिहास-लेखन की विरचना करते हुए भारत की प्रजा को 'आत्मगौरव', 'राष्ट्रप्रेम' और 'अस्मिता' के लिए संघर्षरत दिखाया। यहाँ हम तथाकथित सेक्युलर बुद्धिजीवियों द्वारा उठाए गए उस अतिप्रश्न की ओर पुनः लौटते हैं, "बंकिम चंद्र चटर्जी कृत 'आनंद मठ' हिंदू-सांप्रदायिकता और मुस्लिम-विरोधी भावना को सुविचारित ढंग से प्रचारित-प्रसारित करने का एक प्रभावशाली आख्यान है?"

उदाहरणार्थ, तानिका सरकार ने अपनी पुस्तक 'हिंदू वाइफ, हिंदू नेशन' में निकर्षतः यह कहा है कि बंकिम ऐसे पहले हिंदू राष्ट्रवादी लेखक थे जिन्होंने हिंदुओं के द्वारा मुस्लिम-विरोधी संग्राम को साहित्य में चित्रित किया और इसे वैधता प्रदान की। यही नहीं, बंकिम ने हिंदू सशक्तीकरण के लिए 'भूतकाल में भारत को पददलित करने वाले' मुसलमानों को हिंदुओं के परम शत्रु के रूप में दिखाया।<sup>3</sup> इसी प्रकार बंकिम को मुस्लिम-समुदाय के परम-विरोधी लेखक के रूप में प्रस्तुत करते हुए अकबर अहमद कहते हैं कि 'आनंद मठ' में संतान (संन्यासी) विद्रोहियों का मूल उद्देश्य है मुस्लिम शासन का समूल विनाश अतः वे मुस्लिम शासकों और मुस्लिम समुदाय का नरसंहार करते हैं और उनके गाँवों बस्तियों को आग लगाकर नष्ट कर देते हैं। यहाँ पर अकबर अहमद यह भी कहना नहीं भूलते कि "अयोध्या में बाबरी-मस्जिद के विनाश (1992) और बंकिम कृत 'आनंदमठ' (1882) में 'कारण-कार्य' दृष्टि से सीधा संबंध है।"<sup>4</sup> इसी प्रकार बहुत से और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

अब हम बंकिम कृत 'आनंद मठ' के उन अंतः साक्ष्यों का उल्लेख करेंगे जिनके आधार पर बंकिम पर लगाए गए उपरोक्त वितंडापूर्ण मिथ्या आरोपों का निराकरण हो

जाता है। प्रथमतः पदचिह्न नामक गाँव का और भारतवर्ष की ग्रामीण प्रजा का, 1870 के दशक के भीषण अकाल के बावजूद, तत्कालीन शासक वर्ग द्वारा जो अमानवीय, बर्बर शोषण किया जा रहा था, बंकिम उसका वर्णन कई बार प्रमुखता से करते हैं क्योंकि इन्हीं कारणों से जनता का आक्रोश 'संन्यासी विद्रोह' के रूप में अत्याचारी, भ्रष्ट सत्ता-वर्ग (जोकि उस समय मुस्लिम नवाब भी थे और ब्रिटिश साम्राज्य के अधिकारी वर्ग भी) के विरुद्ध व्यक्त हुआ। "1174 (सन् 1877) में फसल अच्छी नहीं हुई, अतः 1175 (सन् 1878) में अकाल आ पड़ा। लेकिन इस पर भी शासकों ने पैसा-पैसा, कौड़ी-कौड़ी वसूल कर ली। ...मालगुजारी के अफसर मुहम्मद रजा ख़ाँ ने मन में सोचा कि यही समय है, मेरे तपने का। एकदम उसने दश प्रतिशत मालगुजारी बढ़ा दी। बंगाल में घर-घर कोहराम मच गया। पहले लोगों ने भीख माँगना शुरू किया, इसके बाद कौन भिक्षा देता है? उपवास शुरू हो गया। फिर जनता रोगाक्रांत होने लगी। गौ, बैल, हल बेचे गए, बीज के लिए संचित अन्न खा गए, घर-बार बेचा, खेती-बाड़ी बेची। इसके बाद लोगों ने लड़कियाँ बेचना शुरू किया। फिर लड़के बेचे जाने लगे, इसके बाद गृहलक्ष्मियों का विक्रय प्रारंभ हुआ। ...खाद्य के अभाव में लोग पेड़ों के पत्ते खाने लगे, घास खाना शुरू किया...। छोटी जाति की जनता और जंगली लोग कुत्ते, बिल्ली और चूहे खाने लगे। बहुतेरे लोग भागे। वे लोग विदेश में जाकर अनाहार से मरे। जो नहीं भागे, वे अखाद्य खाकर, उपवास और रोग से जर्जर हो मरने लगे।"<sup>5</sup> स्पष्ट ही है कि कुशासन और अनाचार से पीड़ित भारत की प्रजा के समक्ष दो ही विकल्प थे या तो भूख से पीड़ित हो मृत्यु को प्राप्त होना या आततायी, अन्यायकर्ता शासक वर्ग के विनाश के लिए युद्ध करना चाहे परिणाम मृत्यु ही क्यों न हो। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि बंगाल की जनता के इस निर्मम शोषण के उत्तरदायी अंग्रेज और तत्कालीन नवाब (जोकि मुस्लिम थे) ही थे। अतः संन्यासी-विद्रोह का उद्देश्य भ्रष्ट अक्षम और अत्याचारी मुस्लिम नवाब को उखाड़ फेंकना था क्योंकि उसकी अयोग्यता और भोग-विलास में लिप्सा के कारण ही अंग्रेज सरकार के द्वारा कर-वसूली तब की गई जबकि प्रजा भयानक दुर्भिक्ष और भूख से पीड़ित थी। बंकिम ने 'आनंद मठ' में कहा है :

"1766 में बंगाल प्रदेश अंगरेजों के शासनाधीन नहीं हुआ था। अंगरेज उस समय बंगाल के दीवान ही थे। वे खजाने का रूपया वसूलते थे। लेकिन तब तक बंगालियों की रक्षा का भार उन्होंने अपने ऊपर लिया न था। उस समय लगान की वसूली का भार अंगरेजों पर था और कुल संपत्ति की रक्षा का भार पापिष्ठ, नराधम, विश्वासघातक, मनुष्य-कुलकलंक मीरजाफर पर था। मीरजाफर आत्मरक्षा में ही अक्षम था, तो बंगाल प्रदेश की रक्षा कैसे कर सकता था? मीरजाफर सिर्फ अफीम पीता था और सोता था, अंगरेज ही अपने जिम्मे का सारा कार्य करते थे। बंगाली रोते थे और कंगाल हुए जाते थे।" (पृ. 741)

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि इस भयानक अव्यवस्था के जिम्मेवार अक्षम, भ्रष्ट शासक वर्ग (जो कि मुस्लिम नवाब भी थे) के विरुद्ध प्रजा के स्वाभाविक आक्रोश की परिणति हिंसक विद्रोह एवं शासकों के खजाने की लूट-खसोट के रूप में हुई जैसाकि 'आनंद मठ' में चित्रित संतान (संन्यासी) विप्लव के कारणों से भी स्पष्ट है:

“अतः बंगाल का कर अंगरेजों को प्राप्य था, लेकिन शासन का भार नवाब पर था। जहाँ-जहाँ अंगरेज अपने प्राप्य कर की स्वयं अदायगी करते थे, वहाँ-वहाँ उन्होंने अपनी तरफ से कलेक्टर नियुक्त कर दिए थे। लेकिन मालगुजारी प्राप्त होने पर कलकत्ते जाती थी। जनता भूख से चाहे मर जाए, लेकिन मालगुजारी देनी ही पड़ती थी।” (पृ. 741) यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारत की प्रजा के सामूहिक अवचेतन में 1857 के विद्रोह की स्मृतियाँ 'आनंद मठ' लिखे जाने तक (1882) ताजा र्थीप्रथम स्वातंत्र्य संग्राम (1857) में हिंदू मुस्लिम प्रजा ने मिलकर एक साथ एक प्रकार की 'राष्ट्रीय एकता' का उदाहरण देते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध सैन्य-संघर्ष किया था। न ही संन्यासी-विद्रोह (1776) को और न ही प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (1857) को हिंदू सांप्रदायिकता का जनक कहा जा सकता है। दोनों विद्रोह की घटनाओं की पृष्ठभूमि में अन्य कारणों के साथ ही तत्कालीन शासक-वर्ग की अक्षमता, उनका अनैतिक आचरण, साम्राज्यवादी ताकतों के द्वारा प्रजा का शोषण व दमन और प्रजा की सांस्कृतिक भावनाओं की निरंतर अवमानना भी हैं।

यह आकस्मिक नहीं है कि 'आनंद मठ' (1882) के प्रकाशन से ठीक पहले बंकिम चंद्र चटर्जी का उपन्यास 'राजसिंह' प्रकाशित हुआ था (1882 में ही)। बंकिम चंद्र के अनुसार 'राजसिंह' एक ऐतिहासिक आख्यान है जिसके केंद्र में औरंगजेब का कुशासन और उसकी दमनकारी नीतियाँ हैं जिनके कारण प्रजा में व्यापक असंतोष व्याप्त था। 'राजसिंह' के उपसंहार में बंकिम अपनी लेखकीय-प्रतिबद्धता को रेखांकित करते हुए अपने भारत के विचार/अर्थ को ध्वनित करते हैं :

“ग्रंथकार का यह विनीत निवेदन है कि कोई पाठक अपने मन में यह न समझे कि हिंदू मुसलमान में किसी प्रकार का भेदभाव सिद्ध करना इस ग्रंथ का उद्देश्य है। हिंदू होने से ही कोई अच्छे नहीं होते; मुसलमान होने से ही कोई बुरे नहीं होते; अथवा हिंदू होने से ही बुरे नहीं होते, मुसलमान होने से ही अच्छे नहीं होते। अच्छे-बुरे दोनों में समान रूप से हैं; बल्कि यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि जब मुसलमान शताब्दियों से भारतवर्ष के प्रभु थे, तब राजकीय गुणों में मुसलमान सम-सामयिक हिंदुओं की अपेक्षा अवश्य श्रेष्ठ थे। किंतु यह भी सत्य नहीं कि मुसलमान राजा हिंदू राजाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ थे। अनेक स्थलों में मुसलमान ही हिंदुओं की अपेक्षा राजकीय गुणों में श्रेष्ठ थे; अनेक स्थलों में हिंदू राजा मुसलमानों की अपेक्षा राजकीय गुणों में श्रेष्ठ थे। अन्यान्य गुणों के साथ जिनमें धर्म-ज्ञान होहिंदू हो या मुसलमान, वही श्रेष्ठ है। अन्यान्य गुणों के होने पर भी जिनका धर्म नहीं है, हिंदू हो या मुसलमान वह निकृष्ट है।”<sup>6</sup>

'राजसिंह' (1882) में इस 'उपसंहार' के माध्यम से बंकिम अपनी 'लेखकीय और सांस्कृतिक' प्रतिबद्धता की स्पष्ट व्याख्या करते हैं। एक रचनाकार के रूप में, अथवा भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति संवेदित और समर्पित एक लेखक के रूप में बंकिम को क्या 'सांप्रदायिक/हिंदू कट्टरवाद/मुस्लिम विरोधी विचारधारा' का जनक या प्रणेता माना जा सकता है? जिसमें धर्म ज्ञान होहिंदू हो या मुसलमान वही श्रेष्ठ हैभला इस नैतिक कसौटी को 'सांप्रदायिकता/कट्टरता' का संवाहक कैसे कहा जा सकता है? हाँ, यदि कुछ तथाकथित 'धर्म निरपेक्ष' बुद्धिजीवियों मत/वोट की राजनीति पर परजीवियों और कृमियों की भाँति पोषित राजनेताओं और वितण्डवादियों को इस 'धर्म' नामक शब्द से ही घृणा हो और जो राजनीतिक-बौद्धिक आडंबर के चलते धर्म की अवधारणा की सार्वभौमिक/सार्वकालिक व्यापकता, जोकि कर्तव्यपालन और सदाचार के माध्यम से किसी भी व्यक्ति/समुदाय में प्रकट होती है (को न जानते हुए या जानते हुए भी), की अवहेलना करते हैं और धर्म को सीमित अर्थों में अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' का पर्याय मान लेते हैं, उनको बंकिम चंद्र के शब्दों में (1884 में लिखे निबंध'धर्म एवं साहित्य') ही उत्तर दिया जा सकता है“धर्म आत्मपीड़न नहीं है, आपकी उन्नति का साधन है, आपका आनंदवर्धन ही धर्म है। ईश्वर में भक्ति, मनुष्य में प्रीति एवं हृदय में शान्तियही धर्म है। भक्ति, प्रीति, शान्ति, इन तीन शब्दों से जो छवि: चित्रित हुई, उस मोहिनी मूर्ति की अपेक्षा मनोहर और इस जगत में क्या है?... जो सत्य है, वह धर्म है। साहित्य भी धर्म को छोड़कर नहीं चलता, क्योंकि साहित्य सत्यमूलक है। यदि ऐसा कुसाहित्य हो, जो असत्यमूलक और अधर्ममय हो, तो उसके पाठ से दुरात्मा या विकृति रुचि पाठक के अलावा और कोई सुखी नहीं हो सकता।”<sup>7</sup>

एक अल्पतम बुद्धियुक्त व्यक्ति और एक दर्शनशास्त्र/साहित्य सैद्धांतिकी/सामाजिक विज्ञान इत्यादि की सामान्य समझ रखने वाला व्यक्ति, दोनों ही, चाहे वे ईश्वर में आस्था रखते हों या नहीं, 'धर्म' के इन सार्वभौमिक अर्थों'सत्य, प्रीति, शान्ति, आनंद, उन्नति' को आसानी से स्वीकार/ग्रहण कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति में 'धर्म' की गहन व्याख्या हुई है और लोक मानस में धर्म'कर्तव्यपरायणता, सदाचारण/परोपकार/सत्य/प्रेम' इत्यादि अर्थों में आज भी प्रचलित और स्वीकृत है। अतः भारतीय सांस्कृतिक संदर्भों में न तो बंकिम ही और न ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचंद, फैज अहमद फैज, यू.आर. अनंतमूर्ति, कुरुतुलैन हैदर, अमृता प्रीतम, फणीश्वरनाथ रेणु, अज्ञेय, निराला, मुक्तिबोध जैसे लेखकों को 'धर्मनिरपेक्ष' कहा जा सकता है। और क्या बंकिम को उनकी समग्रतापरक, कर्तव्योन्मुख, नैतिक मूल्य केंद्रित धर्म की अवधारणा और उसके साहित्यिक चित्रांकन को 'हिंदुत्व' (जैसाकि इसे हिंदू सांप्रदायिकता के पर्याय के रूप में ही 'सभ्य समाज' में समझा जाता है), हिंदू-राष्ट्रवाद और मुस्लिम विरोधी विचारधारा का आदि विमर्श माना जा सकता है? अपने एक लेख'बंगाल के

नव्य लेखकों के प्रति निवेदन' (1884) में बंकिम ने साहित्य के उद्देश्य और साहित्यकारों के कर्तव्य (धर्म) के विषय में विश्लेषण करते हुए लेखक/साहित्यकार की 'सांस्कृतिक/मूल्यपरक' प्रतिबद्धता को 'धर्म' की कसौटी पर पुनः कसा "अगर मन में यह समझ रहे हैं कि लिखकर देश या मनुष्य जाति का मंगल साध सकेंगे अथवा सौंदर्य की सृष्टि कर सकेंगे तो अवश्य लिखिए। जो किसी अन्य उद्देश्य से लिखते हैं, उनकी गणना यात्रादि करने वाले नीच व्यवसायियों के संग की जा सकती है।

जो असत्य है, धर्म विरुद्ध है, परनिंदा या परपीड़न या स्वार्थसाधन जिसका उद्देश्य है, वे सब प्रबंध कभी हितकर नहीं हो सकते, इसलिए वे एकदम परिहार्य हैं। सत्य और धर्म ही साहित्य का उद्देश्य है। अन्य उद्देश्य से लेखनी धारण करना महापाप है।" (बंकिम चंद्र : प्र. नि., पृ. 176)

अतः स्पष्ट है कि बंकिम के समग्रतावादी साहित्यिक-सांस्कृतिक विमर्श को किसी प्रकार की उग्रतावादी, कट्टरतावादी, घृणा-हिंसा केंद्रित विचारधारा का संवाहक नहीं कहा जा सकता है। हाँ, बंकिम की कृतियों को (जैसे 'आनंद मठ') और उसमें सम्मिलित 'वंदेमातरम्' को) और उनमें ध्वनित राष्ट्र-प्रेम, त्याग, राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद, कर्तव्य, प्रेम और करुणा के उदात्त विचारों/अर्थों को 'हिंदू राष्ट्रवाद, हिंदू कट्टरतावाद, मुस्लिम विरोधी-हिंदू सांप्रदायिकतावाद' का रूपक मानने वाले आलोचकों/बुद्धिजीवियों की कट्टरता, अधर्मसापेक्षता, वितण्डावादिता, राजनीतिक अवसरवादिता, साहित्य के प्रति अज्ञान, असहिष्णुता इत्यादि तो प्रकट हो ही जाते हैं। 'आनंद मठ' से ही एक और उदाहरण लिया जा सकता है। जब महात्मा सत्यानंद से दो आगतुक 'संतान पथ' के अनुयायी बनने की अनुमति/दीक्षा चाहते हैं, तो सत्यानंद उनसे प्रश्न करते हैं:

"ठीक। तुम लोग अपनी जाति का त्याग कर सकोगे? समस्त संतान एक जाति में हैं। इस महाव्रत में ब्राह्मण-शूद्र का विचार नहीं है। तुम लोगों का क्या मत है?"

दोनों "हम लोग भी जाति का ख्याल न करेंगे। हम सब माता की संतान एक जाति के हैं।" (पृ. 774)

महात्मा सत्यानंद के राष्ट्रवादी विचारों में और उनके संघर्ष के मार्ग में राष्ट्रीय एकता को सार्थक करने के लिए 'जाति प्रथा' का त्याग करना एक अनिवार्य शर्त है। यहाँ राष्ट्रवाद के इस स्वरूप में, जोकि वर्तमान के सापेक्ष भूतकालीन है, भविष्य के समतामूलक, समग्रतावादी, रचनात्मक राष्ट्रवाद के प्रभावशाली संकेत उपस्थित हैं। यदि बंकिम ने 'आनंद मठ' में मीरजाफर (नवाब-बंगाल) की, उसके अधर्म, अनीति और अक्षमता के कारण निंदा की, तो उसका कारण, जैसा कि बंकिम के विमर्श से प्रकट है, उसका मुस्लिम होना नहीं था, जैसा कि अनर्थकारी रूप से प्रचारित किया जाता है। 'दुर्गेशन्दिनी' की आयशा, 'चंद्रशेखर' का मीरकासिम (नवाब बंगाल), 'राजसिंह' की जेबुन्निसा और मुबारक आदि जैसे उदात्त मानवीय धर्म की प्रतिष्ठा

और उसका संवर्धन करने वाले चरित्रों की बंकिम ने ही रचना की है। 1888 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'धर्मतत्व' में बंकिम ने संवाद शैली के माध्यम से धर्म की व्यापक परिभाषा और बहुसंदर्भी, बहुआयामी व्याख्या करते हुए समग्र सृष्टि और मानवता के प्रति संवेदना, करुणा, प्रेम और कर्तव्य को धर्म के प्रमुख घटकों के रूप में निरूपित किया।<sup>18</sup> इसी प्रकार उन्होंने सत्, चित् और आनंद जैसे मूल्यों को संस्कृति के प्रमुख आदर्श माना। (देखिए 'धर्मतत्व', पृ. 62-63)। यदि मीरजाफर या अन्य अक्षम, अत्याचारी मुस्लिम नवाबों की बंकिम ने आलोचना अपने उपन्यासों में की है, तो यह दृष्टव्य है। प्रमुख इतिहासकारों ने भी बंगाल के उन नवाबों की निंदा की जो कि भोग-विलास में लिप्त थे और जिनके कुशासन के कारण 'बंगाल की लूट' हुई और बंगाल की प्रजा पर अमानवीय अत्याचार हुए।<sup>19</sup> अकारण नहीं है कि बिपन चंद्र जैसे इतिहासकार ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि मीरजाफर जैसे भ्रष्ट और अक्षम शासकों के रहते "सन् 1766, 1767 और 1768 इन तीन वर्षों में ही लगभग 57 लाख पौण्ड स्टर्लिंग ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंगाल से बाहर भेजे गए। दो तरह की शासन व्यवस्था (नवाब और ईस्ट इंडिया कंपनी) से उद्भूत अव्यवस्था और भ्रष्टाचार तथा शासक वर्ग की अक्षमता के कारण बंगाल की प्रजा को भयंकर गरीबी और भुखमरी का सामना करना पड़ा। 1770 में बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा जिसे उसके दुष्परिणामों की वजह से उसे मानव इतिहास के सबसे भयानक अकालों/दुर्भिक्षों में गिना जा सकता है। लाखों प्रजाजनों की इसी दुर्भिक्ष में अकाल-मृत्यु हुई और अकालग्रस्त बंगाल की लगभग एक तिहाई जनता इसके हृदयविदारक दुष्परिणामों का शिकार बनी।" (कृपया देखेंमा.इ. पृ. 72)

'आनंद मठ' में वर्णित संतान (संन्यासी-विद्रोह) विप्लव की पृष्ठभूमि में क्या यही ऐतिहासिक कारण नहीं है? अकर्मण्य नवाबों के भ्रष्टाचार और उनकी शक्तिहीनता के कारण ही बिपन चंद्र (आधुनिक इतिहासकार) और बंकिम चंद्र दोनों ही शासक वर्ग की आलोचना करते हैं। सर्वविदित है कि औपन्यासिक परिवेश में ऐतिहासिक तथ्यों की अतिरंजित व्यंजना भी हो सकती हैजैसा कि बंकिम के कथानकों में भी देखा जा सकता हैकिन्तु सामान्यतया 'अतिरंजना/अतिरंजित वक्तव्यों/वर्णनों' का प्रयोग साहित्यिक युक्ति के रूप में एक विशेष प्रभाव को या विशेष भाव को प्रदर्शित/संपादित करने के लिए किया जाता है। जैसाकि 'आनंद मठ' में सत्यानंद का यह वक्तव्य "ठीक है! हम लोग राज्य नहीं चाहतेकेवल मुसलमान भगवान के विद्वेषी हैंइसीलिए उनका समूल विनाश करना चाहते हैं।" (पृ. 772) यहाँ सत्यानंद के वक्तव्य को बंकिम की मुस्लिम विरोधी भावना और हिंदू कट्टरवाद को पोषित करने वाली विचारधारा का प्रतीक, बड़े सीमित अर्थों में समझा जा सकता हैकिंतु यह सत्यपरक समीक्षा नहीं होगी क्योंकि सत्यानंद का यह वक्तव्य साहित्यिक अतिरंजना का उदाहरण है जिसकी पृष्ठभूमि में बंगाली प्रजा की सामूहिक चेतना में तत्कालीन अक्षम

मुस्लिम शासकों के प्रति क्रोध और आक्रोश की भावना है। प्रजा के आक्रोश को इस अतिरंजना के माध्यम से साहित्यिक कृति में प्रक्षेपित किया गया है यदि बंकिम के मुस्लिम विरोधी विमर्श का ही यह वक्तव्य एक अंग होता तो 'राजसिंह' (1882) के उपसंहार में दिए गए (ऊपर उद्धृत) बंकिम के धर्म संबंधी वक्तव्य से इसकी समानता या सादृश्यता अवश्य होती। स्थानाभाव के कारण यहाँ 'वंदे मातरम्' जो कि 1950 में भारत का राष्ट्रगीत बना, की आलोचनात्मक समीक्षा संभव नहीं है क्योंकि इस 'गीत' को भी भारतीय राजनेताओं और तथाकथित धर्म निरपेक्षता के अलंभरदार बुद्धिजीवियों की संकुचित दृष्टि के कारण एक लंबे अरसे से विवादास्पद और मुस्लिम विरोधी समझा गया है। जिस गीत को राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतीक मानते हुए सभी भारतीयों को ग्रहण/स्वीकार करना चाहिए उसके पाठ को एक विशेष पंथ/समुदाय/धर्म का प्रतीक बना दिया गया। राष्ट्रगीत के साहित्यिक-बिंबों और प्रतीकों को राष्ट्र-भूमि और राष्ट्र की समस्त जनता की सांस्कृतिक एकता, वीरता, उन्नति और त्याग की श्रेष्ठतम अर्थों के संवाहक के रूप में स्वीकार करना श्रेयस्कर है। किंतु 'धर्मनिरपेक्षता' के खोखले, आडंबर-युक्त प्रचार-तंत्र के व्यापक प्रभाव के कारण 'आनंद मठ' के इस महान गीत के एक-दो टुकड़ों को ही राष्ट्रगीत के रूप में स्वाधीन भारत में स्वीकृति मिल सकी। राष्ट्रगीत को भी द्विराष्ट्रवादी राजनीति (जिसके आधार में सांस्कृतिक ऐक्य नहीं बल्कि एक धर्म/पंथ, एक राष्ट्र की विभाजनवादी विचारधारा थी) का शिकार बनाया गया। अतः राष्ट्रगीत भी हिंदू-मुस्लिम समुदायों के बीच पैदा की गई घृणा और हिंसा के कारण प्रदूषित और खंडित किया गया।<sup>10</sup>

बंकिम चंद्र चटर्जी के 'आनंद मठ' (और वंदेमातरम्) पर तथाकथित सेक्युलरवादी (धर्मनिरपेक्ष?) बुद्धिजीवियों की अतिवादी आलोचना और पाखंड पर करारा व्यंग्य करते हुए सुदीप्त कविराज कहते हैं

“चूँकि भारत में एक प्रकार की अशिक्षित, आधारहीन धर्म निरपेक्षतावाद ही प्रचलन में है (जिसके अनुसार भारतीय परंपरा से जो व्यक्ति जितना अधिक अनभिज्ञ है, वह उतना ही अधिक सेक्युलर या धर्मनिरपेक्ष है) और जो आधुनिक सेक्युलर तथा सांप्रदायिक शक्तियों के बीच संघर्ष को भारतीय इतिहास की अनंत धारा का अंग मानती है और उसी के अनुसार प्राचीन भूतकाल के लेखकों को आधुनिक राजनैतिक दलों का पूर्वज मानती है... (अतः) बंकिम का मूल्यांकन भी प्रचलित जनश्रुतियों के आधार पर किया गया न कि उनकी रचनाओं की सम्यक् समीक्षा के आधार पर।” (कविराज, पृ. 187) जूलियस लिपनेर ने भी अपने विद्वतापूर्ण लेख ('आनंद मठ' के अंग्रेजी अनुवाद की 'भूमिका') में अपने गंभीर शोध के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि बंकिम के 'आनंद मठ' को 'हिंदू मुस्लिम शत्रुता' को पोषित करने वाला उपन्यास नहीं कहा जा सकता है और न ही इस उपन्यास के कथानक, अंतःसाक्ष्यों और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर बंकिम को मुसलमानों के विरुद्ध एक सतत

संघर्ष का आवाहन करने वाले लेखक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, हालाँकि इस प्रकार की निराधार, असाहित्यिक, अतार्किक और असैद्धांतिक आलोचना का शिकार आधुनिक भारत में बंकिम को बनाया गया है इसमें संदेह नहीं। (दिखिएलिपनेर, पृ. 69)। बंकिम ने अपने उपन्यासों और आलेखों में निकृष्ट, पतित और कर्तव्यबोध से विमुख हिंदुओं की भी प्रखर आलोचना/निंदा की है।<sup>11</sup> लेकिन इस तथ्य को बंकिम-निंदकों के द्वारा अनदेखा किया गया है।

बंकिम ने अपने एक प्रसिद्ध आलेख 'भारतवर्ष की स्वाधीनता एवं पराधीनता' (बंकिम चंद्र : प्र.नि., पृ. 76-84) में स्वाधीनता और पराधीनता की स्थितियों का सांप्रदायिक और जातीय (जाति प्रथा संबंधी) विद्वेषों से ऊपर उठकर बड़ा बेबाक और क्रांतिकारी विश्लेषण किया है

“जिस देश में स्वदेशी प्रजा पर विदेशी राजा के स्वजातीय लोगों का वर्चस्व रहता है, उसी देश को पराधीन कहते हैं। जो राज्य परजाति पीड़न से शून्य है, वही स्वाधीन है। इसीलिए परतंत्र राज्य को भी कभी स्वाधीन नहीं कहा जा सकता। यथा, जार्ज प्रथम के समय हनोवर, मुगलों के समय काबुल। दूसरी ओर कभी-कभी स्वतंत्र राज्य को भी पराधीन कहा जा सकता है; यथा नार्मन लोगों के समय का इंग्लैंड, औरंगजेब के समय का भारत। हम कुतुबुद्दीन शासित उत्तर भारत को पराधीन कहते हैं, अकबर शासित स्वतंत्र भारत को स्वतंत्र और स्वाधीन कहते हैं।” (पृ. 78-79)

'आनंद मठ' के विषय-वस्तु और उसके महत्त्व के बारे में टैगोर के विचार भी दृष्टव्य हैं—“आनंदमठ को अठारहवीं शताब्दी के भारत के आख्यान या कथा के रूप में पढ़ा जा सकता है। उस काल में प्रजाजन त्याग को उसी प्रकार स्वीकार करते थे जैसे कि बंकिम के संन्यासी! और ग्रामीण लोग भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए बलिदान के लिए तैयार रहते थे। और स्त्रियाँ भी अपने स्वामियों को साधु-स्वरूप में देखकर हर्षित होती थीं। और धर्म का तब तक अर्थ मैत्री या दूसरों के साथ सहोदर भाव!... एकता। न कि अलगाव!”<sup>12</sup>

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बंकिम को एक अमर लेखक कहा है और उसका मुख्य कारण केवल उनके द्वारा लिखी गई महान पुस्तकें ही नहीं हैं रवीन्द्रनाथ के अनुसार बंकिम के विमर्श में पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों, आदर्शों और मूल्यों का जिस असाधारण प्रतिभा के साथ समन्वय संपूर्ण मानवता के कल्याण के लिए किया गया है, वह उन्हें अमरत्व प्रदान करता है ('राय', पृ. 19) 'आनंद मठ' के अंत में महात्मा सत्यानंद के संतान (संन्यासी) विद्रोह की, सनातन धर्म के विकृत रूप की और प्रचलित हिंदू धर्म की भी बड़ी सम्यक् आलोचना (एक महात्मा के द्वारा) बंकिम संपादित करते हैं—“सत्यानंद, कातर न हो। तुमने बुद्धि-विभ्रम से दस्युवृत्ति द्वारा धन-संचय कर रण में विजय ली है। पाप का कभी पवित्र फल नहीं होता। अतएव तुम

लोग देश-उद्धार नहीं कर सकोगे।...अंगरेजों के बिना राजा हुए सनातन धर्म का उद्धार नहीं हो सकेगा।...तैंतीस कोटि देवताओं का पूजन सनातन धर्म नहीं है। वह एक तरह का लौकिक निकृष्ट धर्मम्लेच्छ जिसे हिंदू धर्म कहते हैं लुप्त हो गया। प्रकृत हिंदू-धर्म ज्ञानात्मक-कार्यात्मक नहीं। जो अंतर्विषयक ज्ञान है, वही सनातन धर्म का प्रधान अंग है। लेकिन बिना पहले बहिर्विषयक ज्ञान हुए, अंतर्विषयक ज्ञान असंभव है। स्कूल देखे बिना सूक्ष्म की पहचान ही नहीं हो सकती। बहुत दिनों से इस देश में बहिर्विषयक ज्ञान लुप्त हो चुका है। इसीलिए वास्तविक सनातन धर्म का लोप हो गया है।...अतएव बाहरी देशों से बहिर्विषयक ज्ञान भारत में फिर लाना पड़ेगा। अंगरेज इस ज्ञान के प्रकांड पंडित हैं लोक शिक्षा में बड़े पटु हैं। अतः अंगरेजों के ही राजा होने से...वह ज्ञान उत्पन्न होगा। जब तक उस ज्ञान से हिंदू ज्ञानवान, गुणवान और बलवान न होगा, अंगरेज राज्य रहेगा। उस राज्य में प्रजा सुखी होगी, निष्कंटक धर्माचरण होंगे।” (पृ. 812-813)

यहीं पर बंकिम भारतीय और योरोपीय पश्चिमी संस्कृतियों के संपर्क-संघर्ष के अवकाश में एक रचनात्मक सांस्कृतिक मूल्य-विनिमय की प्रक्रिया को दर्शाने के लिए सत्यानंद और महापुरुष महात्मा के पात्रों की व्याख्या करते हैं “यह कहकर महापुरुष ने सत्यानंद का हाथ पकड़ लिया। किसको किसने पकड़ा है? ज्ञान ने भक्ति का हाथ पकड़ा है, धर्म के हाथ में कर्म का हाथ है, विसर्जन ने प्रतिष्ठा का हाथ पकड़ा है। सत्यानंद ही शांति है महापुरुष ही कल्याण है सत्यानंद प्रतिष्ठा है महापुरुष विसर्जन है। विसर्जन ने प्रतिष्ठा को साथ ले लिया।” (पृ. 813)

कहना न होगा कि ज्ञान, कर्म, धर्म, भक्ति, त्याग, विसर्जन और प्रतिष्ठा भारतीय संस्कृति के मूल में हैं और इन्हीं मूल्यों की मानव समाज में स्थापना करने के नैतिक प्रयत्न को ही धर्म कहा गया है। इन्हीं अर्थों में ‘आनंद मठ’ समग्रतावादी भारतीय संस्कृति का एक रूपक है। अन्याय, अनीति, आतंकवाद और अनाचार जैसे दानवों से त्रस्त भारतमाता की संतानों को आज बंकिम जैसे पथप्रदर्शकों की आवश्यकता है जिन्होंने अपने रचनात्मक कर्म के माध्यम से मानवता को धर्म के मार्ग पर चलते हुए अन्याय, असत्य और आतंकवाद के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए सदैव प्रेरित किया है।

### संदर्भ :

1. जूलियस जे. लिपनेर, ‘आनंदमठ, ऑर दि सैक्रेड ब्रदरहुड’ नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005, पृ. 59 तत्पश्चात् आलेख में लिपनेर (पृ. संख्या सहित) की तरह उद्धृत।
2. सुदीप्त कविराज, दि अनहैपी काँशसनेस : बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय एंड दि फॉर्मेशन ऑफ नेशनलिस्ट डिस्कोर्स इन इंडिया, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,

- 1995, पृ. 111-112, तत्पश्चात् आलेख में कविराज (पृ. सं. सहित) की तरह उद्धृत।
3. तानिका सरकार, हिंदू वाइफ, हिंदू नेशन: कम्युनिटी, रिक्लीजन एंड कल्चरल नेशनलिज्म, नई दिल्ली, परमानेंट ब्लैक, 2001, पृ. 141, 172, 181-182
4. अकबर अहमद, जिन्ना, पाकिस्तान एंड इस्लामिक आइडेंटिटी : दि सर्च फार सलादीन, लंदन, राउटलज, 1997, पृ. 220
5. बंकिम चंद्र चटर्जी, आनंद मठ (संपादक : निहाल चंद्र वर्मा), बंकिम समग्र, (संपादक : निहाल चंद्र वर्मा), वाराणसी, हिंदी प्रचारक संस्थान, 1989, पृ. 735। प्रस्तुत आलेख में आनंद मठ के सभी उदाहरण इसी संस्करण से लिए गए हैं तथा पृ. संख्या के साथ उद्धृत हैं।
6. राजसिंह (सम्मिलित है बंकिम समग्र) संदर्भ वही जो ऊपर उद्धृत है। पृ. 733
7. धर्म और साहित्य बंकिमचंद्र : प्रतिनिधि निबंध (अनुवाद, प्रयाग शुक्ल, संपादन-अमित्रसूदन भट्टाचार्य), नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1995, पृ. 174। तत्पश्चात् आलेख में बंकिम चंद्र (प्र.नि.) पृष्ठ संख्या के साथ उद्धृत।
8. धर्मतत्व, (अनुवाद अप्रतिम रे), नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003, देखिए, पृ. 60-85, 172-251। तत्पश्चात् आलेख में धर्मतत्व, पृ. संख्या सहित उद्धृत।
9. देखिए विपन चंद्र मॉडर्न इंडिया, नई दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी., 1982 पृ. 18-20, 65-72, 92-101। तत्पश्चात् आलेख में मॉ.इ. पृष्ठ संख्या सहित उद्धृत।
10. देखिए सव्यसाची भट्टाचार्य, वंदेमातरम् : दि बायोग्राफी ऑफ द सांग, नई दिल्ली, पेंग्विन, 2003 तथा सव्यसाची भट्टाचार्य ‘वंदेमातरम् : इन रिवाइन्ड मोड’, फ्रंटलाइन, दिसंबर 4, 2009, पृ. 119-122। अमिय.पी. सेन ने अपने दि बुक रिव्यू (दिसंबर, 2003 पृ. 10) में प्रकाशित लेख में कहा है कि बंकिम बाबू ने अपने समय के बंगाली सभ्य समाज के नैतिक पतन को देखकर बड़े ही व्यंग्यपूर्ण ढंग से अपने मित्र को भेजे गए एक पत्र में लिखा कि मुझे ‘वंदेमातरम्’ की बजाय ‘वंदे उदरम्’ नामक गीत लिखना चाहिए था!!
11. बंकिम चंद्र (प्र.नि.) देखिए ‘बंग दर्शन का घोषणा पत्र’ (1872), ‘भारत-कलंक’ (1872), ‘बंगदेश का कृषक’, ‘भारतवर्ष की स्वाधीनता और पराधीनता’, ‘बंगालियों का बाहुबल’ (1874) पृ. 1-22, 23-75, 76-84, 93-100।
12. टैगोर और मुल्कराज आनंद का संवाद : अबाउट आनंद मठ : ए कन्वरसेशन विद रवीन्द्रनाथ टैगोर ‘आनंद मठ’, (अनुवाद बसंत कुमार राय), दिल्ली ऑरिएंट पेपरबैक्स, 1992, पृ. 11)। तत्पश्चात् आलेख में राय पृ. सं. सहित उद्धृत। ‘वंदे मातरम्’ और ‘आनंद मठ’ के विरुद्ध दुष्प्रचार और विषवमन के बावजूद मध्य प्रदेश मदरसा बोर्ड के चेयरमैन श्री एस. के मुद्दीन ने मध्य प्रदेश के मदरसों में शिक्षा प्राप्त करने वाले 2.75 लाख विद्यार्थियों को ‘वंदे मातरम्’ का गायन अनिवार्य किया। श्री मुद्दीन ने कहा “मदरसा में शिक्षा प्राप्त करने वाले सभी विद्यार्थी भारतीय नागरिक हैं...और प्रत्येक भारतीय नागरिक को राष्ट्रीय गीत को गर्व के साथ गाना चाहिए।” (दि टाइम्स ऑफ इंडिया, 2.09.2006, पृ.7)

## कफन का प्रेमचंदपन

बालेंदु शेखर तिवारी\*

‘तेईस हिंदी कहानियाँ’ का संपादन करते हुए जैनेंद्र कुमार ने एक चौंकानेवाला कथाक्रम निर्धारित किया है। कई सीमा तक एक सुनियोजित व्यतिक्रम है यह, जिसमें 1913-20 के मध्य प्रकाशित ‘कानों में कंगना’, ‘उसने कहा था’ और ‘गुंडा’ जैसी कहानियों से पहले 1936 में छपी प्रेमचंद की कहानी को स्थान मिला है। हिंदी की अग्रपांक्तेय कहानियों के बीच ‘कफन’ प्रेमचंद की तीन सौ से अधिक कहानियों में ही नहीं, हिंदी की हजारों कहानियों में श्रेष्ठतम है। इस अनूठी कहानी के निकट विलक्षण, मानक, अन्यतम, सर्वश्रेष्ठ और श्रेष्ठतम जैसे शब्द बौने हो गए हैं। ‘कफन’ एक कथा चमत्कार है, जिसमें कहानी विधा अपने संपूर्ण वैभव के साथ एकाग्र है। ‘कफन’ एक कथा इतिहास है, जहाँ से भारतीय कहानी के नए युग के पथ संकेत मिलते हैं। इस कहानी ने यथार्थ की देशज बनावट से संपन्न उन आंचलिक कहानियों का मार्ग प्रशस्त किया, जिस राह पर कालांतर में रेणु आदि चले। इस कहानी ने कथा के परिपार्श्व से व्यंग्य की प्रहारक मुद्राओं को उभारने का वह कौशल प्रस्तावित किया जिसे बाद में भीष्म साहनी, कमलेश्वर, अमरकांत आदि ने अपनी अनेक कहानियों में अपनाया। हिंदी कथालोचन में अनुभव की प्रामाणिकता, भोगा हुआ यथार्थ, कथानक की विश्वसनीयता जैसे मुहावरे ‘कफन’ कहानी और ‘गोदान’ उपन्यास की चर्चा के बहाने ही विकसित हुए। विसंगतियों का मजाक उड़ाते हुए सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली व्यंग्यकारी भी ‘कफन’ के अनंतर ही स्थापित हुई। ‘कफन’ एक स्थायी कथा प्रभाव है, जिसने कहानीपन की पारंपरिक अर्हताओं के स्थान पर नई अपेक्षाओं को प्रोत्साहित किया। ‘कफन’ कहानी की शक्ति में परिवर्तन की रोशनी का एक सैलाब है, जो आसपास की जिंदगी को उजागर करने का प्रयास करता है।

\*डॉ. बालेंदु शेखर तिवारी, प्रोफेसर, पूर्व विभागाध्यक्ष, हिंदी, राँची विश्वविद्यालय। पता : 6 शिवम, हरिहर सिंह रोड, राँची-834008

‘कफन’ का प्रारंभ ऐसे परिदृश्य से हुआ जब प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई थी और सारा गाँव अंधकार में लय हो गया था। यह अंधेरा जितना बाहरी है, उतना ही भीतरी भी है। मानव नियति के साक्षात्कार की यह विरल कथा हिंदी कहानी में द्विचर यथार्थ के बिंब को स्थापित करती है। मध्यकाल में तुलसी, सूर और कबीर ने संत-असंत, सद्-असद् के युग्म द्वारा अपने परिवेश के जिस द्विचर यथार्थ को रेखांकित किया था, वही प्रेमचंद के समय में अमीर और गरीब, शोषक और शोषित, महाजन और रैयत की नई शक्ति में यथार्थ का संवाहक बन गया था। प्रेमचंद ने अपने समय के यथार्थ में उपलब्ध इसी युग्म, इसी द्वंद्व को अपनी कथाकारी के केंद्र में रखा। ‘सद्गति’, ‘ठाकुर का कुआँ’, ‘पूस की रात’ और ‘कफन’ जैसी उनकी कहानियाँ इसी द्विचर यथार्थ को प्रतिबिंबित करती हैं। विशेषतः ‘पूस की रात’ और ‘कफन’ में तो युग्म यथार्थ का चरम रूप नजर आता है। यथार्थ की इसी द्विचर संरचना ने परवर्ती हिंदी कहानी के लिए यथार्थ-विमर्श के अनेक गवाह खोले। इन कहानियों के बाद ही चारों ओर व्याप्त विपन्नता, संघर्ष और द्विचर यथार्थ के इतर पहलुओं का समावेश हिंदी कहानी में हुआ। ‘कफन’ प्रेमचंद के आसपास के परिदृश्य को कहानी के सांचे में उतारने की स्वाभाविक परिणति है, जिसमें प्रेमचंद अपने अधीत विषय पर विभिन्न प्रकार से आक्रमण करते हैं। इसमें कथा की बुनावट पाठकों को कहीं भटकाती नहीं, वहीं से ले जाती है, जहाँ प्रेमचंद का गंतव्य है। घटनाओं की नाटकीयता के बीच से सामाजिक अंतर्विरोध को कौशलपूर्ण उभारना प्रेमचंद को भली-भाँति आता था। ‘कफन’ से पहले भी कहानियों में प्रेमचंद यह कौशल प्रदर्शित कर चुके थे। लेकिन द्विचर यथार्थ की उनकी संकल्पना ‘पूस की रात’ और ‘कफन’ में उत्कर्ष पर नजर आती है। अपने समाज की अंतरंग समझदारी और कथाकारी के बारी की अनुशासन के कारण ही उनकी इन कहानियों में प्रभाव की तीव्रता आई है। हिंदी कहानी का नक्शा बदलने वाली कहानी ‘कफन’ अपने पाठकों पर कथाकार के विश्वास की कहानी है। यह कहानी मृत्यु और भूख के संकट से जूझते लोगों की गाथा है। ऐसी कहानी व्यापक मानवीय संवेदना और मनुष्य की जिजीविषा में गहरी आस्था के बिना नहीं लिखी जा सकती। स्वयं प्रेमचंद की कई कहानियों का पुनर्लेखन संभव है। ऐसे प्रयास भी हुए हैं। लेकिन ‘कफन’ जैसी कहानी दुबारा नहीं लिखी जा सकती। इसका एक केंद्रीय कारण यह भी है कि यह कहानी अपने पाठकों में बेचैनी पैदा करती है। प्रेमचंद ने स्वयं कहा है कि बेचैनी पैदा करना साहित्य का लक्षण है। ‘कफन’ इस कसौटी की एक अपूर्व कहानी है, जो अपने किसी भी रूप में बेचैन करती है। इस कहानी के प्रकाशित होने के कुछ ही समय बाद 9 फरवरी, 1942 को लखनऊ में विद्यार्थी संघ की कल्चरल कांफ्रेंस के लिए खुले मंच पर डॉ. रशीद जहाँ द्वारा किया गया नाट्य रूपांतर पहली बार मंचित हुआ था। उर्दू की विश्रुत लेखिका डॉ. रशीद

जहाँ ने 'कफन' कहानी को तीन दृश्यों में बाँट कर इसका रूपांतर किया था। बाद में कितने शहरों में कितनी बार यह कहानी मंचित हुई, इसकी कोई अंतिम गणना नहीं हो सकती। मृणाल सेन ने तेलुगु में इस कहानी पर अपनी फिल्म 'ओका ओरी कथा' बनाई। 'कफन' को चित्रों के माध्यम से साकार किया गया, टेलीफिल्म के रूप में, रेडियो नाटक/नुकड़ नाटक के रूप में और श्रुतिकाव्य के रूप में भी। माध्यम बदलते गए, लेकिन 'कफन' कहानी की प्रभावसत्ता खंडित नहीं हुई है। समय के साथ कहानी की विश्वसनीयता में विस्तार आता गया है और इसमें बेचैन करने की क्षमता भी पूर्ववर्त ही है।

'कफन' प्रेमचंद की लगभग अंतिम कहानी है और कथाकार के निधन के बाद छपी। इस कहानी का प्लॉट प्रेमचंद ने कुछ आत्मीय लोगों को सुनाया था और मौखिक संतरण करता हुआ कथावृत्त जब आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पास पहुँचा तो वे इस कहानी के तीव्र विस्फोट एवं नग्न यथार्थ को पचा नहीं सके थे। आदमी इतना गिर नहीं सकता कि घर में पड़ी बहू/पत्नी की मौत का जश्न मनाने लगे। प्रेमचंद तत्काल तो आचार्य शुक्ल की इस टिप्पणी पर चुप रह गए, लेकिन शीघ्र ही उन्होंने मानवता के अधोपतन का एक जीवंत प्रमाण पेश कर दिया। प्रेमचंद के मुहल्ले में एक स्त्री अपने बच्चे की दुहाई देकर भीख माँगती थी। एक दिन प्रेमचंद ने बच्चे को स्पंदनहीन देखा तो स्त्री से पूछा 'सच-सच बताओ कि तुम्हारा यह बच्चा कब मरा?' इस पर सकपकाई स्त्री ने रोते हुए बताया कि इसे ही दिखा कर वह भीख माँगती रही है और कल शाम इसके मर जाने पर भी एकाध दिन इसे दिखाकर भीख माँग लेना उसने स्वीकार किया। यह प्रसंग प्रेमचंद ने आचार्य शुक्ल को सुनाया तो वे 'कफन' कहानी के कड़वे सच के कायल हो गए। 'कफन' की विश्वसनीयता पर मुहर लगाने वाला यह संस्मरण कई कठों से छन कर आने के कारण कई लोगों के लिए अप्रामाणिक है। लेकिन इतना तय है कि बुधिया की मृत्यु का उत्सव मनाने वाले घीसू और माधव जैसे लोग प्रेमचंद के समाज में थे। आज भी मौजूद हैं। प्रेमचंद ने इन दोनों की कामचोरी, भूख, दीनता और नंगेपन का विस्तार से परिचय दिया है—'घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना कामचोर था कि आध घंटे काम करता तो घंटे भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मजदूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्टी भर अनाज भी मौजूद हो तो उनके लिए काम करने की कसम थी। जब दो चार फाके हो जाते थे तो घीसू पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधव बाजार में बेच आता और जब तक वे पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे फिरते। जब फाके की नौबत आ जाती तो फिर लकड़ियाँ तोड़ते या मजदूरी तलाश करते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था। मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे। मगर इन दोनों को लोग उसी वक्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी

संतोष और धैर्य के लिए संयम और नियम की बिलकुल जरूरत न होती। यह तो इनकी प्रकृति थी। विचित्र जीवन था इनका। घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई संपत्ति नहीं थी। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढके हुए जिए जाते थे। संसार की चिंताओं से मुक्त। कर्ज से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी गम नहीं। दीन इतने कि वसूली की बिलकुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ न कुछ कर्ज दे देते थे। मटर आलू की फसल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भून-भान कर खा लेते, या दस-पाँच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने इसी आकाश वृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पद चिह्न पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था।"

इस विवरण से संकेत मिलता है कि प्रेमचंद की कोई सहानुभूति अकर्मण्य, आलसी और आकाश वृत्ति पर आश्रित पिता-पुत्र के प्रति नहीं है। वे तो घीसू और माधव की तमाम खामियों का ब्यौरा विदग्ध व्यंग्य भाषा में देते हैं। सात्त्विक क्रोध और क्रूर व्यंग्य से सनी शब्दावली द्वारा उन्होंने अपनी कई रचनाओं में अवसर मिलते ही पूरी निर्ममता के साथ विसंगतियों की शल्य चिकित्सा की है। 'शतरंज के खिलाड़ी' में जिस धार के साथ प्रेमचंद ने मिर्जा की कायरता का बखान किया है, उसी कौशल से 'कफन' में घीसू और माधव के आलसीपन की चर्चा की गई है। प्रेमचंद की ही 'मुबारक बीमारी' में भी पिता पुत्र हैं लेकिन दोनों कर्मशील हैं। घीसू और माधव की तरह वे कामचोर और आलसी नहीं हैं। 'कफन' कहानी के प्रारंभ में ही इन पात्रों की वास्तविकताएँ उजागर हो जाती हैं, जो भुने हुए आलुओं को जल्दी-जल्दी निगलने के बाद वहीं अलाव के पास अजगर की तरह गेंडुलियाँ मार कर सो जाते हैं। बहुत सारे कहानीकार अपने पात्रों को नहीं जानते हैं, जबकि प्रेमचंद अपने कथा-पात्रों से भलीभाँति परिचित हैं और पाठकों से उनका आत्मीय परिचय कराते हैं। घीसू और माधव का परिचय पाकर तनिक भी अटपटा नहीं लगता। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार, प्रेमचंद के पात्र लिलिपुटों के बीच गुलीवर नहीं हैं। घीसू और माधव जैसे पात्र अपने ही जैसे लोगों के बीच हैं, इसी सामाजिक परिदृश्य की देन हैं। उनका सारा चरित्र, सारी मनोवृत्तियाँ आसपास की क्रूर परिस्थितियों की परिणति है। अपने इन पात्रों के प्रति प्रेमचंद की पक्षधरता करुणासिक्त सहानुभूति के स्तर पर नहीं है। लेकिन कहानीकार उनकी मानसिकता और गतिविधियों द्वारा महाजनी सभ्यता के परिणामों को उजागर करता हुआ आर्थिक विपन्नता तथा मार्ग संघर्ष के द्विचर यथार्थ को साकार करता है। जिस महाजनी सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पंजे और दाँत विकृत कर दिए हैं, उसके खिलाफ यह कहानी घीसू और माधव जैसे व्यंग्य उपहास के आलंबन बने पात्रों के सहारे खड़ी है। इन नखदंतगलित समाज में घीसू-माधव जैसे



लोग विरोध नहीं करते हैं, व्यवस्था का विद्रूप करते हैं उस पर हँसते हैं। यह मसखरी प्रेमचंद ने कहानी के पहले दृश्य से ही प्रारंभ कर दी है।

कहानी का आरंभ प्रसव वेदना से पछाड़ खा रही बुधिया के प्रति घीसू की झूठी सहानुभूति और माधव की झूठी करुणा से हुआ है

“तू बड़ा बेदर्द है बे! साल भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई!” तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।

इस वार्तालाप के उस छोर पर कराहती बुधिया है, तो इस छोर पर अलाव के भुने हुए आलुओं को निगलने में व्यस्त पिता-पुत्र हैं। जिस औरत ने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी, उसकी मरणांतक पुकार के बीच घीसू और माधव अपनी भूख शांत करते हैं। घीसू ठाकुर की बारात में मिली दावत का स्मरण करता है। उस दावत की स्मृतियाँ घीसू को नए सिरे से प्रसन्न कर देती हैं। घीसू का भोजन-प्रेम प्रेमचंद की ‘निमंत्रण’, ‘मनुष्य का परम धर्म’, ‘सत्याग्रह’ जैसी हास्य कहानियों के नायक पंडित मोटेराम शास्त्री की भोजन प्रियता नहीं है। अतीत में उदरस्थ की गई असली घी की पूरियों, तरकारी, दही और मिठाइयों का स्मरण घीसू के मन को तृप्त और भूख को उद्दीप्त करता है। माधव मन ही मन उन दिव्य पदार्थों का मजा लेता है और खेद व्यक्त करता है कि अब कोई ऐसी दावत नहीं देता। अपनी मृत्यु के निकटतर पहुँच रही बुधिया के हाहाकर के समानांतर पिता-पुत्र पूरियों का हिसाब-किताब करते रहते हैं। अपनी बातचीत के बीच घीसू और माधव ने भगवान का भी स्मरण किया है। भगवान के स्मरण के साथ वे अपने समाज के स्वभाव का मूल्यांकन भी करते हैं। समाज की जड़ों तक जमी हुई आस्तिक आस्था के पीछे जिस शोषक एवं संपन्न वर्ग की गतिविधियों का व्यापक सिलसिला है, उसकी सच्चाइयों से पिता-पुत्र अनजान नहीं हैं। विशेषतः घीसू बहुत ही घुटा हुआ और पका हुआ है। प्रेमचंद के अनुसार, घीसू शेष किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था। तभी वह ऐसी विचारपनी बातें बोलता है, जो उस जैसे अन्य द्रिदों के लिए संभव नहीं है। ‘पूस की रात’ के हल्कू के यहाँ स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य पर ऐसी चर्चा नहीं है। घीसू ने अपने जीवनानुभव को यथावसर विचार सूक्तियों का जामा पहनाने से परहेज नहीं किया है। पिता और पुत्र के रूप में घीसू और माधव का चरित्रांकन पूरी तरह अपारंपरिक है। माधव इस भय से कोठरी में तड़पती बुधिया को देखने नहीं जाता कि कहीं इस बीच उसका बाप आलुओं का बड़ा भाग साफ न कर दे। कहानी के अंत में दोनों पिता-पुत्र एक साथ मधुशाला की रौनक बढ़ाते हैं। पिता और पुत्र की यह तस्वीर निश्चय ही भारतीय जीवन दर्शन के अनुरूप नहीं है। शायद इसी कारण हंसराज रहबर ने ‘कफन’ को अराजकता को प्रोत्साहित करने वाली एक गलत कहानी कहा है। सवाल यह है

कि पिता-पुत्र के संबंध ऐसे हो सकते हैं क्या? लेकिन प्रेमचंद वर्तमान की आँखों से भविष्य में झाँकते हैं। नए दौर के सुपुत्र माधव जैसे ही व्यावहारिक हैं पिता के साथ मित्रवत व्यवहार करने वाले, पिता से आगे की सोच से समृद्ध और वर्जनाओं को लौंघने के लिए हमेशा उत्सुक। माधव के लिए मृतप्राय अथवा मृत बुधिया गुजरा हुआ अतीत है। आज के तात्कालिक सुख को सर्वोपरि महत्त्व देने वाली पीढ़ी के जीवंत प्रतिनिधि के रूप में माधव की प्रस्तुति द्वारा प्रेमचंद ने 1936 में इक्कीसवीं सदी की मौजूदा बिन्दास पीढ़ी का संकेतन किया है। प्रकारांतर से पारिवारिक संबंधों के विघटन को भी यह कहानी रेखांकित करती है। पति-पत्नी और पिता-पुत्र के टूटते रिश्तों के चटखने की आवाजें प्रतिध्वनित करने के साथ ही साथ यह कहानी हमारे सामाजिक जीवन में क्रमशः यंत्रवत् होती जा रही परंपराओं की जड़ता भी सूचित करती है।

बुधिया की मृत्यु ‘कफन’ कहानी में परिवेश के यथार्थ के संप्रेषण का दूसरा आयाम है। घीसू और माधव अजगर की तरह गेंडुलियाँ मार कर सोने के बाद ही जगते हैं, जब बुधिया की मृत्यु हो चुकी होती है। यह मौत कहानी में एक साथ कई प्रश्नों, मूल्यों और विद्रूपों को अन्वेषित करती है। ‘लाश की दुर्गति’ शीर्षक अपनी एक टिप्पणी में प्रेमचंद ने लिखा है “मृत्यु एक ऐसा कठोर सत्य है, जिसको बार-बार याद दिलाने की जरूरत नहीं है।” लेकिन ‘कफन’ में बुधिया की मृत्यु का बार-बार स्मरण किया गया। इस आवृत्ति के पक्ष में प्रेमचंद ने ‘विविध प्रसंग’ की एक टिप्पणी में तर्क दिया है, “वास्तविकता चाहती है कि आर्टिस्ट दुनिया को उसी तरह दिखाए जैसे वह उसे देखता है। अगर इससे मानव अनुभूतियों को आघात पहुँचता है तो पहुँचे।” इसलिए बुधिया की मौत और उसके बाद का कथा वितान एक साथ कई संकल्पों की प्रस्तावना करता है। व्यवस्था-विरोध का सूत्रपात करने वाली यह कहानी बुधिया की मौत के अनंतर ही करुणा की संवेदना जगाती है। भारतीय समाज की विभिन्न परंपराओं की जड़ मर्यादाओं के चित्र इसके बाद ही उभरते हैं। बुधिया की मौत ‘कफन’ कहानी में सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिदृश्य के बिखराव को तीव्रता प्रदान करती है। इस घटना के बाद ही गाँव के लोग आए और पुरानी मर्यादा के अनुसार घीसू माधव को समझाने लगे। बुधिया का अवसान घीसू और माधव को संपन्न लोगों के सामने बिना कोई काम किए कुछ माँगने और पाने का अवसर देता है। यह मौत बेदर्द जमींदार को दयालु बना देती है और शेष गाँव वाले भी जमींदार का अनुकरण करते हैं। गाँव की नरम दिल स्त्रियाँ आकर बुधिया की बेचारगी पर आँसू बहाती हैं। अंततः घीसू को बुधिया के कफन के लिए पाँच रुपए प्राप्त हो जाते हैं। यह सब परंपरा की यांत्रिक उपस्थिति ही है और इन सबके परिपार्श्व में है बुधिया की मौत। यह मौत कहानी का मेरुदंड है, जिसके आगे और पीछे प्रेमचंद ने व्यापक

मानवीय संवेदना एवं उससे जुड़ी व्यंग्य मुद्राओं का आयोजन किया है। यथार्थ की ऐसी नब्ज पर प्रेमचंद ने लगातार अपना हाथ रखा है कि उनका दक्ष कथा शल्य विज्ञानी स्वभाव निर्विवाद स्थापित होता है।

बुधिया के अंतिम संस्कार निमित्त कफन के कपड़े खरीदने के लिए निकले घीसू और माधव जाने किस दैवी प्रेरणा से मधुशाला के सामने जा पहुँचे। यह घटना इस कहानी का अंतिम चरण है और इसे चरमोत्कर्ष तक पहुँचाती है। इसके पूर्व घीसू कोई हलका-सा कफन खरीदने का प्रस्ताव रखता है और माधव उससे सहमत दिखता है। पिता-पुत्र को इस सामाजिक परंपरा से शिकायत है कि जिसे जीते जी शरीर ढकने के लिए चीथड़ा भी न मिला, उसे मरने पर नया कफन देने की कितनी निरर्थक व्यवस्था है। लाश के साथ जल जाने की बात भी घीसू और माधव के चिंतन की नई खोज है। दोनों साथ-साथ बाजार में इधर-उधर घूमते हैं। दोनों एक दूसरे के अंतर्मन का अध्ययन करते हैं और अंत में मधुशाला के अंदर जाकर ताबड़तोड़ शराब पीते हैं। इस स्थिति में पहुँचकर उनका चिंतन उदात्त हो जाता है और प्रेमचंद अपनी सधी हुई व्यंग्यकारी में सक्रिय हो जाते हैं। घीसू और माधव भगवान के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। कफन का तिरस्कार उनके शोषित संतप्त जीवन में एक नई बहार लेकर आया है। माधव ने कहा कि बुधिया बैकुंठ की रानी बनेगी। इस पर घीसू उल्लास की लहरों पर तैरता हुआ बोला

“हाँ बेटा, बैकुंठ जाएगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी जिंदगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुंठ जाएगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं।”

घीसू के चिंतन में विद्यमान द्विचर यथार्थ का यही अंतराल ‘पूस की रात’ के हल्कू के मानस में भी है। वह अपने कुत्ते जबरा को सुनाता है—“एक-एक भगवान ऐसे पड़े हैं जिनके पास जाड़ा जाय तो गर्मी से घबड़ा कर भागे। मोटे-मोटे लिहाफ-कम्बल। मजाल है कि जाड़े का गुजर हो जाय। तकदीर की खूबी है, मजूरी हम करें मजा दूसरे लूटें।”

किसी भी सक्रिय व्यंग्यकार की तरह प्रेमचंद ने द्विचर यथार्थ में अपनी पक्षधरता के आलंबन का चुनाव करने के बाद ही इन कहानियों को रचा है। जीवन की धड़कनों को अवरुद्ध करने वाली स्थितियों की पैनी पकड़ उनकी कई प्रखर कहानियों में है। ‘ठाकुर का कुआँ’ की गंगा सोचती है कि हम क्यों नीच और वह क्यों ऊँचे हैं?, ‘सवा सेर गोहूँ’ के अंत में प्रेमचंद यह निष्कर्ष भी देते हैं कि हमारे आसपास कई शंकर और पंडित हैं। लेकिन प्रेमचंद की कथाकारी वहाँ अपने चरम उत्कर्ष पर है, जहाँ वह ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं देते। ‘कफन’ और ‘पूस की रात’ में कोई निष्कर्ष न देकर भी प्रेमचंद ने सब कुछ कह दिया है। ‘पूस की रात’ का हल्कू मजदूरी करता

है, फिर भी पेट नहीं भर पाता। ‘कफन’ के घीसू को संतोष है कि तमाम फटेहाली के बावजूद उसे जी-तोड़ परिश्रम तो नहीं करना पड़ता। कहानीकार ने इन दोनों कहानियों में शोषण के नरक में अनवरत यातना सहते जिन गरीबों का चित्रण किया है, वे आज भी भारतीय देहात के महासागर में गरीबी रेखा के नीचे मौजूद हैं। अब उनके गाँव के लोगों के हाथ में मोबाइल आ गए हैं, लेकिन उनकी अपनी स्थिति आज भी किसी निर्णायक दौर में नहीं है। इसीलिए प्रेमचंद कोई निष्कर्ष नहीं देते। चिंता के समापन का कोई मार्ग नहीं इंगित करते। ‘पूस की रात’ का हल्कू सारी खेती चौपट हो जाने पर भी खुश है कि रात को ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा। इसी तरह ‘कफन’ के घीसू और माधव घर में सड़ रही बुधिया की लाश को भूल कर शराब पीते हैं और अपने जीवन को धन्य बनाते हैं। अगर हल्कू नीलगाय को भगा कर कंबल खरीद लेता अथवा अगर घीसू और माधव कफन के लिए मिले पैसों से बुधिया का कफन ही खरीद लेते, तो ये कहानियाँ ऐसी नहीं होतीं। अभाव और संकट के बीच क्षणिक सुख की ओस इन कहानियों के जलते यथार्थ को वांछित शीतलता प्रदान करती है। तभी ये कहानियाँ इतनी प्रभावशाली और विश्वसनीय बनी हैं। प्रेमचंद के यहाँ अभिव्यक्ति का अर्थ संवेदनशीलता के गहरे तल में उतर कर पाठकों के साथ समरस हो जाना है।

‘कफन’ कहानी का अंत प्रेमचंद के पाठकों और समीक्षकों को अभिनव आस्वाद देता है। मधुशाला में बैठकर शराब का आनंद लेते हुए पिता-पुत्र समाज के शोषक संपन्न वर्ग को धिक्कारते हैं और दिवंगत बुधिया के बैकुंठ गमन के प्रति आश्चर्य हैं। यह संपूर्ण दृश्य प्रेमचंद की व्यंग्यकारी और मसखरी का मिश्रित प्रभाव छोड़ता है। एक क्षण के लिए माधव अपनी सहधर्मिणी बुधिया के संतापों का स्मरण करता है, रोता भी है। लेकिन घीसू दार्शनिकों की मुद्रा में उपदेश देता है

“क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह मायाजाल से मुक्त हो गई। जंजाल से छूट गई। बड़ी भाग्यवान थी, जो इतनी जल्द माया-मोह के बंधन को तोड़ दिए।” इस उपदेश के बाद घीसू और माधव की गतिविधियाँ एकाकार हो गईं। दोनों खड़े होकर नाचने-गाने लगे और अंततः नशे में मदमस्त होकर वहीं गिर पड़े। एक समीक्षक ने घीसू और माधव को प्रेमचंदीय दौर का अभिनव ब्राह्मण बताया है जो मौत की दावत खाते हैं और मौत के अवदान से खुश होते हैं। वास्तव में घीसू और माधव वर्गचरित्र होकर भी वर्ग प्रतिनिधि नहीं हैं। वे प्रेमचंद की अपनी कथाकारी, अपनी विचार शृंखला और अपनी संवेदना के परिणाम हैं। यह पूरी कहानी प्रेमचंद के निजी स्पर्श और विलक्षण संप्रेषण की उपलब्धि है। अनुभवों से विचार की ओर बढ़ने और फिर विचार से अनुभवों की दुनिया में लौटने की सर्जना-प्रक्रिया का शिलालेख है ‘कफन’। श्रव्य-दृश्य माध्यमों और विज्ञापनों की चकाचौंध में मानवीय संवेदना यदि कहीं और कैसे भी बच सकती है, तो शाश्वत मूल्यों से सराबोर ‘मंत्र’ और यथार्थ की बहुरेखीय बनावट से बनी ‘कफन’ जैसी कहानियों के कथा-स्थापत्य से ही यह संभव है।

‘कफन’ में प्रेमचंद ने अपने समय तक की भारतीय कहानी के साँचे को पूरी शक्ति के साथ तोड़कर एक नई कथामूर्ति का निर्माण किया है। कम-से-कम शब्दों में अपनी बात कहने की जादूगरी से समृद्ध कथा भाषा द्वारा प्रेमचंद ने ‘कफन’ में किस्सागोई के सपाटपन को खुरदरी जमीन दी। समग्रता में स्थायी प्रभाव डालने वाली यह कहानी अपने अनूठे प्रेमचंदपन के कारण ही इतनी अनूठी है। चेखव शैली की नाटकीयता और मारस जिग्मोंद की तरह जीवन प्रक्रिया को परोसने की समझदारी इस प्रेमचंदपन की आधारशिला है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है—“प्रेमचंद में ऋषि और मसीहा ही वीक्षण शक्ति है, जो कि वे दोनों में से किसी का स्वांग नहीं भरते।” वास्तव में प्रेमचंद की कथायात्रा अपने अंतिम चरण तक ऋषि और मसीहाओं की भूमिकाओं में उन्हें एक साथ प्रतिष्ठित करती है। यही आश्वस्तकारी प्रेमचंदपन प्रेमचंद की शक्ति और विलक्षणता है। ‘कफन’ में प्रेमचंद का प्रेमचंदपन अपनी समस्त धार, सारी संरचना और अप्रतिम मुद्राओं के साथ उपलब्ध है।

## समुदाय और सांप्रदायिक हिंसा

### शंकर शरण\*

देश के सामने प्रस्तावित ‘सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा निरोधक (न्याय और क्षतिपूर्ति मिलने) विधेयक, 2011’ खुले तौर पर बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक सामुदायिक आधार पर बनाया गया है। इसकी इस विशेषता को पूरी गंभीरता से नोट करना चाहिए। सांप्रदायिक हिंसा रोकने के नाम पर यह एक ऐसे कानून का प्रस्ताव है, जो किसी आगामी सांप्रदायिक हिंसा के लिए सदैव हिंदुओं को दोषी मानकर चलता है। किसी अज्ञात व्यक्ति की शिकायत पर भी कोई हिंदू गिरफ्तार होगा, यदि शिकायत सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने की हो। ऐसी शिकायत किसी ‘अल्पसंख्यक’ पर लागू नहीं होगी। अतः आरंभ से ही किसी हिंदू के दोषी होने की संभावना मानकर चलेगी। उसकी कोई टीका-टिप्पणी भी सांप्रदायिक हिंसा उकसाने जैसी बात मानी जाएगी। अर्थात् प्रस्तावित कानून स्थायी रूप से हिंदुओं के मुँह पर सदा के लिए ताला लगा देगा।

यह कानून वर्तमान न्याय दर्शन के भी विपरीत होगा। यह दर्शन मानता है कि जब तक किसी का अपराध साबित न हो, उसे निर्दोष समझना चाहिए। प्रस्तावित कानून मानेगा कि हर हिंदू सांप्रदायिक हिंसा का दोषी है, जब तक कि वह स्वयं को निर्दोष न साबित कर ले। किंतु यही मान्यता अल्पसंख्यकों पर लागू नहीं होगी। क्योंकि प्रस्तावित कानून केवल उन्हें ही सांप्रदायिक हिंसा का पीड़ित मानकर चलता है।

तदनु रूप देश भर में सांप्रदायिकता पर निगरानी करने वाली एक विशेष अथॉरिटी होगी। यह अथॉरिटी सांप्रदायिक हिंसा रोकने में विफलता आदि के नाम पर राज्य सरकारों तक को बर्खास्त कर सकेगी। इस अथॉरिटी में ‘अल्पसंख्यक’ अधिक संख्या में रखे जाएँगे। क्योंकि यह कानून स्थायी रूप से मानेगा कि हर हाल में, कहीं भी, कभी भी सांप्रदायिक हिंसा निरपवाद रूप से हिंदू ही करेंगे। अतः किसी

\* डॉ. शंकर शरण, IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविंदो मार्ग, नई दिल्ली-110016

सांप्रदायिक घटना की जाँच, विचार तथा निर्णय करने वाली इस सुपर अर्थॉरिटी में गैर हिंदू ही निर्णायक संख्या में होने चाहिए। इसमें यह मान्यता निहित है कि हिंदू तो हिंदू दंगाई के लिए पक्षपात करेगा, किंतु गैर हिंदू पक्षपात नहीं कर सकता।

स्वतंत्र भारत में सामुदायिक भेद-भाव के आधार पर बनने वाला यह सबसे भयंकर कानून होगा। न्याय, सच्चाई और संविधान के साथ ऐसा मजाक करने वालों को क्या भारत में सांप्रदायिक हिंसा का इतिहास पता भी है?

भारतीय संसद में ही प्रस्तुत गृह मंत्रालय की एक रिपोर्ट के अनुसार देश में सन् 1968 से 1970 के बीच हुए चौबीस दंगों में तेईस दंगे मुस्लिमों द्वारा आरंभ किए गए थे। (इंडिया टुडे, 10 अप्रैल, 2002)। यह रिपोर्ट कांग्रेस शासन में ही आई थी। तब से हालत बदतर ही हुए। हालिया सांप्रदायिक हिंसाओं की भी वही कहानी है। गोधरा से लेकर आगरा और उदालगिरि से लेकर मराठ तक सांप्रदायिक हिंसा किस समुदाय ने आरंभ की थी? (जब कानून समुदाय के आधार पर बनाया जा रहा है, तब हिंसा होने का समाचार, विवरण, इतिहास आदि भी समुदाय की स्पष्ट सूचना के आधार पर होना ही चाहिए। जब अखबारों और टी.वी. समाचार चैनलों को ऐसी घटनाओं पर खबर देने की अपनी गोल-मोल शैली बदलनी चाहिएकम से कम इस प्रस्तावित विधेयक के बाद तो यह अनिवार्य हो गया है!) यहाँ तक कि विदेशों में घटी घटनाओं, किन्हीं अमेरिकी या यूरोपीय द्वारा दिए बयान या किए गए काम से क्रुद्ध होकर यहाँ भारत में सांप्रदायिक हिंसा आरंभ करने का काम कौन करता है? चाहे वह अमेरिका में पादरी जेरी फेलवेल का बयान (2002) हो या डेनमार्क में कोई कार्टून बनना (2005), हर बार यहाँ बेचारे हिंदुओं को संगठित हिंसा का भयानक दंश झेलना पड़ता है।

यही स्वतंत्रता-पूर्व भी होता था, जब तुर्की में खलीफत खत्म होने पर यहाँ मोपला, मुलतान, ढाका तथा अनेक स्थानों पर हिंदुओं को क्रूरतापूर्वक मारा गया। वह सब देखकर महात्मा गाँधी जैसे व्यक्ति को भी कहना पड़ा कि “मुसलमान प्रायः गुंडा होता है और हिंदू कायर।” कि यह तो एक पुरानी परंपरा है। यह असुविधाजनक सच गाँधीजी ने उस समय हिंदुओं के वीभत्स संहार वाले एक दौर के बाद कह दिया था। बीस पेज लंबे उनके उस लेख का शीर्षक था, Hindu-Muslim Tension : Its Cause and Cure। इस लेख में एक उप-शीर्षक ही था : 'The Bully and the Coward', जिसके अंतर्गत गाँधी एक पूरे पृष्ठ में विस्तार से लिखते हैं कि मुसलमान प्रायः गुंडे होते हैं और हिंदू कायर।

गाँधी के अपने ही शब्दों में, “My own experience confirms the opinion that the Mussalman as a rule is a bully, and the Hindu as a rule is a coward. I have noticed this in railway trains, on public roads, and in the quarrels which I had the privilege of settling. Need the Hindu blame the Mussalman

for his cowardice? Where there are cowards, there will always be bullies. They say that in Saharanpur the Mussalmans looted houses, broke open safes and, in one case, a Hindu woman's modesty was outraged. Whose fault was this? Mussalmans can offer no defence for the execrable conduct, it is true. But I, as a Hindu, am more ashamed of Hindu cowardice than I am angry at the Mussalman bullying.” (यंग इंडिया, 29 मई, 1924)। गाँधीजी के *क्लेक्टड वर्क्स*, खंड 28, पृ. 43-62 पर यह पूरा लेख पढ़ा जा सकता है। (जर्मनी के कुछ गाँधी भक्तों ने उनके संपूर्ण वाङ्मय को इंटरनेट पर भी ला दिया है। इसलिए इसे पढ़ने के लिए किसी पुस्तकालय जाने की भी जरूरत नहीं। इस <http://www.gandhiserve.org/cwmg/cwmg.html> वेबसाइट पर गाँधीजी की कोई भी रचना अंग्रेजी में पढ़ी जा सकती है।)

यह दूसरी बात है कि इस लेख में गाँधी जी एक सही बात कह कर भी अंततः पाठकों को एक गलत निष्कर्ष तक ले जाते हैं। पर वह विषयांतर होगा। अभी हमारा उद्देश्य सांप्रदायिक हिंसा में विभिन्न समुदायों की भूमिका और जिम्मेदारी पर कुछ सच्चाइयों को सामने रखना है। उन सच्चाइयों को, जिन पर परदा डालकर एक मनमाना कानून बनाने का जुल्म किया जा रहा है। इस प्रस्तावित कानून के अंतर्निहित दर्शन में बाध को बकरियों से बचाने का, या गाँधी के शब्दों के सहारे कहें तो गुंडों को कायरों से बचाने का कुतर्क गढ़ा गया है।

गाँधीजी ने यह बात किसी भावनात्मक रौ में, या भूल से नहीं कह दी थी। एक और लेख 'What may Hindus do?' में उन्होंने यह टिप्पणी की थी: “तेरह सौ वर्षों के साम्राज्यवादी विस्तार ने मुसलमानों को एक समूह के रूप में योद्धा बना दिया है। इसलिए वे आक्रामक होते हैं। गुंडई इस आक्रामक मनोवृत्ति का ही एक विस्तार है। हिंदुओं की सभ्यता बहुत प्राचीन है। हिंदू मूलतः अहिंसक होता है। ...इसलिए, एक समूह के रूप में हिंदू लड़ने के योग्य नहीं होते। उनमें आम तौर पर हथियारों के प्रयोग की जानकारी नहीं होती, न उसे सीखने की प्रवृत्ति, इसलिए वे कायरता की हद तक भीरू होते हैं।” (यंग इंडिया, 19 जून, 1924)।

यह बात गाँधी जी के मूल लेखन में इन शब्दों में है “...the thirteen hundred years of imperialistic expansion has made the Mussalmans fighters as a body. They are therefore aggressive. Bullying is the natural excrement of an aggressive spirit. The Hindu has an ages-old civilization. He is essentially non-violent...Predominance of the non-violent spirit has restricted the use of arms to a small minority which must always subordinate to a civil power highly spiritual, learned and selfless. The Hindus as a *body* are, therefore, not equipped for fighting. But not having

retained their spiritual training, they have forgotten the use of an effective substitute for arms and, not knowing their use nor having an aptitude for them, they become docile to the point of timidity or cowardice.”  
(क्लेक्टेड वर्क्स, खंड 28, पृ. 182-85)

सांप्रदायिक हिंसा पर यह कड़वी सचाई समकालीन टिप्पणी और वर्तमान इतिहास है। इस सचाई को गाँधी के साथ-साथ बंकिम चंद्र, श्री अरविंद, एनी बेसेंट, रवींद्रनाथ ठाकुर, बाबासाहेब आंबेडकर जैसे अनेकानेक परम सत्यनिष्ठ महापुरुष नोट कर चुके हैं।

कविगुरु रवींद्रनाथ ठाकुर ने सन् 1923 में एक व्याख्यान में ऐसी एक केंद्रीय दुर्बलता पर विस्तार से विचार किया था। उनके निबंधों की पुस्तक में यह ‘समस्या’ शीर्षक से प्रकाशित है। एक वास्तविक दृष्टांत लेकर वे कहते हैं, “मेरे मित्र सीमाप्रांत (अब पाकिस्तान में) नियुक्त थे। वहाँ पठान आक्रमणकारी कभी-कभी हिंदू बस्तियों पर टूट पड़ते और स्त्रियों को पकड़ ले जाते। एक बार ऐसी ही किसी घटना के बाद मेरे मित्र ने एक स्थानिक हिंदू से पूछा: ‘ऐसा अत्याचार तुम कैसे सहते हो?’ उसने अत्यंत उपेक्षा से उत्तर दिया: ‘वह तो बनिए की लड़की थी।’ बनिए की लड़की हिंदू है, उसके अपहरण के प्रति उदासीन व्यक्ति भी हिंदू है। दोनों में शास्त्रगत योग हो सकता है लेकिन प्राणगत योग नहीं है। एक पर आघात होता है तो दूसरे के मर्म तक आवाज नहीं पहुँचती।”

क्या यह दुरवस्था आज बदल गई है? उपर्युक्त प्रसंग हिंदू समाज में जाति भेदजन्य दुर्बलता दर्शाता है। किंतु वह बात उतनी सीमित नहीं थी। क्योंकि गैर बनिए हिंदू भी अंतःकरण में जानते थे कि वे भी सुरक्षित नहीं। यह भी जानते थे कि उनका ईश्वर और अंग्रेज पुलिस के सिवा कोई सहारा नहीं। फिर भी, जब तक बनिए की लड़की उठाई जाती रही वे मुँह छिपा कर अपनी प्रतिष्ठा बचाने की भंगिमा बनाते थे। इस प्रकार, स्वयं को भी धोखे में रखते थे। अंततः 1947 में सभी मारे गए, भागे या धर्मांतरित होकर खत्म हुए। यह किस अल्पसंख्यक समुदाय का किस बहुसंख्यक समुदाय की तुलना में कौन-सी स्थिति की झलक देता है?

क्या आज भी कश्मीर, केरल या असम के हिंदुओं के लिए शेष भारत के हिंदुओं की स्थिति उससे कुछ अच्छी है? समुदाय के आधार पर वह सामाजिक, मानसिक प्रवृत्ति आज भी नहीं बदली है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दृष्टांत देकर समझाने और गाँधी द्वारा हिंदू कायरता के प्रस्तुतिकरण के लगभग चार दशक बाद, संभवतः 1970 के आसपास, हिंदी कवि धूमिल ने लिखा था ‘कायर इस कदर कि डरा हुआ हिंदू हूँ।’

केरल से लेकर कश्मीर तक हर दशक, बल्कि हर साल की हिंसा को समुदाय के आधार सामने देख-परख कर इस कड़वी सचाई की परख की जा सकती है। देखिए,

कश्मीर में एक कश्मीरी हिंदू ने सन् 1989 के समय अपने समुदाय की स्थिति किन शब्दों में रखी है :

...हम लोग उनके जरा-सा आँख दिखाने से ही मर जाते हैं। ...हम चुपचाप वैयक्तिक जीवन जी रहे हैं। एक-दूसरे तक को भी पता दिए बिना। अपने स्वयं के भीतर भी मानो स्वयं से ही डरे। बेहद डरे। बेहद जीवन-लोभी। मरने और मरने देने की कालत हम कर नहीं सकते हैं। हम बहुत मारे जा चुके हैं। धर्म-परिवर्तन के माध्यम से। मृत्यु के माध्यम से। हम हारे हैं...बेबस हैं...हमारे खून में ही अब हार का बहुत बड़ा स्वीकार है। तिस पर हम उस कुसमय के शिकार हैं जहाँ वोट का शासन है और वोट में उसी की विजय है जिसका संगठन है, जिसकी संख्या है। हम संगठन से डरते हैं। हम शत्रु की अधीनता स्वीकार करते हैं, हृदय से स्वीकार करते हैं, मगर आपसी संगठन की बात यदि सोचें तो एक दूसरे से श्रेष्ठ समझने की लीचड़ बीमारी से ग्रस जाते हैं। हम एक-दूसरे की ईर्ष्या में विगलित हो उठते हैं, इसलिए संगठन टूटते हैं। हमारा मन बीमार हो उठता है। क्षुब्ध मन। दुःखी और पराजित मन है हमारा। गुलाम मन है...

(क्षमा कौल, ‘दर्दपुर’, नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, 2005, पृ. 734)

इस मानसिकता में कश्मीर से पूरी हिंदू जनता को सामूहिक नरसंहार, खुली चेतावनी, असह्य अपमान आदि द्वारा मार भगाया गया। यह केवल बीस वर्ष पहले की बात है। पूरा भारत इसे टेलीविजन पर देखता रहा, बल्कि देख कर अनदेखा करता रहा! देश की स्वतंत्रता ने, हिंदू नेताओं के हाथ में राज्यसत्ता ने भी उस दुर्बल प्रवृत्ति को दूर नहीं किया, जिस पर गाँधी जैसे व्यक्ति को भी क्षोभ से भरकर एकाध बार लिखना पड़ा था। सत्ताधीश किंकर्तव्यविमूढ़ बैठे रहे। उधर संग्रामपुरा, पुलवामा, नंदीमर्ग, ऊधमपुर, रजौरी जैसे अनगिन स्थानों पर सामूहिक हिंदू नरसंहार होते रहे।

उस पूरे घटनाक्रम ने भारत के करोड़ों हिंदुओं को कोई सक्रिय कदम उठाने के लिए उद्वेलित नहीं किया। वे उसी बेबस स्थिति में सबकुछ देखते रहे, जैसे गाँधीजी के समय में देखते थे। यहाँ तक कि नंदीमर्ग में हिंदुओं के सामूहिक नरसंहार (23 मार्च, 2003) के बाद देश के गृहमंत्री तक ने बयान दे दिया कि ‘सरकार कश्मीर में अब भी बचे हिंदुओं की सुरक्षा की गारंटी कैसे कर सकती है?’ यह ऐसे गृहमंत्री का बयान था कि जिन्हें हिंदू राष्ट्रवादी समझा जाता था! आजकल वे अपनी किसी यात्रा की तैयारी हेतु जगह-जगह हाथ में तलवार लिए फोटो खिंचवा रहे हैं। क्या उन्हें अपने बयान का स्मरण है, जब यह सांकेतिक तलवार नहीं, पूरी भारतीय सेना और विविध सशस्त्र सुरक्षा बल उनके हाथ में थे और उन्होंने कश्मीरी हिंदुओं की रक्षा करने से

लाचारी दिखा दी थी? ऐसी लाचारी किसी जिले के मामूली अंग्रेज पुलिस कप्तान ने भी कभी नहीं दिखाई थी, भारत में ब्रिटिश वायसराय के गृह सचिव की तो बात ही छोड़ दें!

वस्तुतः सन् 2003 में उस हिंदू गृहमंत्री का बयान भी हिंदू समुदाय की उस कायरता, निर्बलता, लड़ने में 'अयोग्यता', आदि प्रवृत्तियों का ही वर्तमान प्रमाण है, जिस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी ने उँगली रखी थी।

सच यह है कि बहुसंख्यक होते हुए भी हिंदुओं का ही पीड़ित होना एक पुरानी स्थिति है। गाँधीजी ने उसी को अपनी तरह कहा था। यह केवल मुगल काल की बात नहीं, जब हिंदुओं पर औरंगजेब जैसे भयंकर अत्याचारी 'अल्पसंख्यक' समुदाय के ही थे। ब्रिटिश शासन में भी, बीसवीं सदी में, यह कथित अल्पसंख्यक समुदाय ही बहुसंख्यकों का उत्पीड़क था। स्वतंत्रता पूर्व भारत में सांप्रदायिक दंगों का पूरा इतिहास इसकी गवाही देता है। डॉ. आंबेडकर ने अपनी पुस्तक 'पाकिस्तान और पार्टीशन ऑफ इंडिया' (1940) में अनगिनत दंगों का उल्लेख किया है। इस गंभीर पुस्तक के अध्याय 7 से 12 तक पढ़कर स्वतः स्पष्ट हो रहेगा कि भारत में समुदाय के आधार पर कौन उत्पीड़क रहा है और कौन उत्पीड़ित।

यह केवल स्वतंत्र आकलन की ही चीज नहीं। असंख्य मुस्लिम नेताओं ने स्वयं बार-बार अहंकारपूर्वक हिंदुओं को धमकी दी थी और आज भी देते हैं। डॉ. आंबेडकर की पुस्तक में यह अनोखा प्रसंग मिलता है कि सन् 1926 में मौलाना अकबर शाह खान ने सार्वजनिक रूप से महामना मदन मोहन मालवीय को चुनौती दी थी कि 'पानीपत का चौथा युद्ध' आयोजित किया जाए। उसमें भारत की तात्कालिक जनसंख्या के आनुपातिक हिसाब से 700 मुस्लिम रहें और 2200 हिंदू। मौलाना ने घमंड से यहाँ तक कहा कि वे लड़ाई के लिए साधारण मुसलमान ही लाएँगे, पठान या अफगान नहीं, जिनसे हिंदू 'प्रायः आतंकित रहते हैं।' मौलाना के अनुसार सात सौ साधारण मुस्लिम बाईस सौ हिंदुओं को यूँ ही कुचल कर रख देंगे।

लगभग उसी समय प्रसिद्ध विद्वान, सूफी और दिल्ली की निजामुद्दीन दरगाह के प्रमुख ख्वाजा हसन निजामी द्वारा व्यक्त किए गए विचार भी देख लीजिए जिससे पता चलता है कि वास्तव में मुस्लिम नेता हिंदुओं को ही अल्पसंख्यक मानते थे। इसे डॉ. आंबेडकर ने अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है। निजामी के अनुसार, "मुसलमान हिंदुओं से घुल-मिल नहीं सकते, क्योंकि रक्तरंजित युद्धों के बाद मुसलमानों ने भारत पर फतह हासिल की थी और अंग्रेजों ने भारत उन्हीं से लिया था। मुसलमान कौम ही भारत के अकेले बादशाह हैं। वे कभी अपना व्यक्तित्व और पहचान नहीं छोड़ेंगे। उन्होंने हिंदुओं पर सैकड़ों वर्षों तक शासन किया और इसलिए उनका इस देश पर अक्षुण्ण अधिकार है। हिंदू संसार में एक अल्पसंख्यक समुदाय हैं। उन्हें आपसी लड़ाइयों से ही फुरसत नहीं है। वे गाँधी में विश्वास करते हैं और गाय की पूजा करते

हैं। वे दूसरे आदमी के यहाँ पानी पीकर अपवित्र हो जाते हैं। हिंदू स्वायत्तशासन की न इच्छा-शक्ति रखते हैं और न उनके पास इसके लिए समय ही है। उन्हें आपसी लड़ाइयाँ ही लड़ने दें। दूसरे लोगों पर शासन करने की उनकी क्षमता ही क्या है? मुसलमानों ने शासन किया है और मुसलमान ही शासन करेंगे।" कृपया याद रखें, निजामी बहुत बड़े विद्वान थे, जिन्होंने प्रसिद्ध 'दर्द-ए-इस्लाम' समेत छोटी-बड़ी करीब पाँच सौ पुस्तकें लिखी थीं।

यह सब कोई आपवादिक प्रसंग नहीं थे। स्वतंत्रता-पूर्व भारत में सारे सांप्रदायिक दंगे निपट एकतरफा होते थे। दंगों का मतलब ही होता था हिंदुओं का संहार। यहाँ तक कि मुस्लिम लीग के एकछत्र नेता के रूप में मुहम्मद अली जिन्ना ने इस तथ्य का उपयोग हिंदुओं को डरा कर भारत-विभाजन मनवाने के लिए भी किया था कि यदि पाकिस्तान की माँग न मानी गई तो मुस्लिम लीग के 'डायरेक्ट एक्शन' (कलकत्ता, 1946) जैसा हिंदुओं का सामूहिक संहार और किया जाएगा। उस धमकी ने वास्तव में अपना प्रभाव दिखाया था।

जिन्ना के अपने शब्दों में, "अब हिंदुओं का भी हित इसी में है कि वे पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर लें, चाहे तो केवल हिंदुओं को कल्लेआम और विनाश से बचाने के लिए ही।" (लियोनार्द मोसले, *द लास्ट डेज ऑफ द ब्रिटिश राज*, पृ. 48)। क्या ऐसे अहंकारी बयान स्वयं नहीं बताते कि समुदाय के आधार पर हिंसा कौन करता और कौन झेलता है? जवाहरलाल नेहरू जैसे मुस्लिम-प्रेमी ने भी मुस्लिम लीग की पहचान यही बताई थी कि वह सड़कों पर हिंदू-विरोधी हिंसा करने के सिवा और कुछ नहीं करती। मौलाना अकबर से लेकर जिन्ना और सुहरावर्दी तक, यह सब कहने, करने वाले तब भी अल्पसंख्यक समुदाय के ही थे। ऐसे अनगिनत प्रमाणों से यह भारत में 'सांप्रदायिक दंगों' के इतिहास की सचाई जरूरी तौर पर समझ ली जानी चाहिए।

विभाजन के बाद के भारत में भी स्थिति मूलतः नहीं बदली। कश्मीर से पूर्णतः और असम, केरल में अंशतः केवल हिंदू की मार भगाए गए। क्या स्वतंत्र भारत में एक भी उदाहरण है, जहाँ मुस्लिम या ईसाई किसी राज्य या जिले से समुदाय के रूप में निकाले, मारे गए? अभी भारत में असंख्य ऐसे इलाके हैं जहाँ पुलिस भी जाने से डरती है। इनमें कोई हिंदू बस्ती नहीं। कई मीडिया कार्यालयों को जहाँ-तहाँ हिंसा और आगजनी झेलनी पड़ी है, फिर भी उलटे उन्हीं ही माफी माँगी। यह प्रसंग भी सदैव एक अल्पसंख्यक समुदाय से जुड़ा है।

अतः यदि सांप्रदायिक हिंसा को रोकने की सचमुच चिंता है, तब पहले देश में हुए प्रत्येक दंगे और हिंसा की पूरी जानकारी देश के सामने रखी जाए। गिना जाए कि एक-एक दंगे की शुरुआत कैसे हुई, किसने की। तब स्वतः तय हो जाएगा कि

‘समुदाय’ के आधार पर हिंसा की चिंता कैसे करनी चाहिए। किसे बचना है, किसे रोकना है?

जिन लोगों ने प्रस्तावित ‘सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा निरोधक (न्याय और क्षतिपूर्ति मिलने) विधेयक, 2011’ का निर्माण किया है, उनकी यह जिम्मेदारी बनती है कि आज तक जितनी सांप्रदायिक हिंसा हुई, सबके आँकड़े, जाँच-रिपोर्ट और अदालती कार्रवाइयों का पूरा हिसाब सामने रखें। यदि समुदाय के आधार पर ही कानून बनना हो, तो पहले एक श्वेत-पत्र लाकर पिछले सौ वर्ष या चौंसठ वर्षों में हुई सभी हिंसा का ठोस विवरण दिया जाए, ताकि उस विधेयक की अंतर्निहित मान्यता का हिसाब और अल्पसंख्यक और बहुसंख्यकों की कल्पित स्थिति की कोई परख हो सके। इस प्रकार, वैसा विधेयक रखने की यह जरूरी पूर्व शर्त हो जाती है कि पहले अब तक के सभी दंगों का सामुदायिक आधार पर आकलन किया जाए कि वह सभी दंगे कैसे, किस घटना से भड़के। तब देखा जाए कि कौन समुदाय, किस बात का और कितना दोषी है। तभी अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक समुदायों के आधार पर सांप्रदायिक-हिंसा निरोधक कानून बनाने की कैफियत हो सकती है। अन्यथा यह विशुद्ध मनमानी ही होगी।

जिस अल्पसंख्यक समुदाय में देश का विभाजन करा देने और हिंसा के बल पर इलाके दर इलाके खाली कराने की सामर्थ्य हो, वह कतई पीड़ित, विवश या भयाकुल नहीं माना जा सकता। आज भी भारत में इमाम बुखारी, जैसे अनेकानेक मुस्लिम नेताओं और दीनदार अंजुमन, स्टूडेंट स्लामिक मूवमेंट ऑफ इंडिया (सिमी), इंडियन मुजाहिद्दीन आदि विभिन्न प्रकार के मुस्लिम संगठनों की भाषा कड़वी सचाई की चुगली करती है। अहमद कादरी और मोअज्जम खान आंध्र विधान सभा के सदस्य होते हुए किसी को खुलेआम मार डालने की कोशिश करते हैं और ‘आइंदा न चूकने’ के बयान देते हैं और कानून-व्यवस्था तंत्र उन्हें टोकने तक का साहस नहीं रखता। हत्या के प्रयास में उन्हें गिरफ्तार और सजा देने की तो बात ही दूर रही। देश की राजधानी में इमाम बुखारी केंद्रीय मंत्रियों से लेकर उच्च न्यायालय, यहाँ तक कि पूरे देश को भी धमकियाँ देते रहे हैं। अबू आजमी संसद में खड़े होकर पुनः देश के विभाजन जैसी धमकी दे चुके हैं। अनेक मौलाना और इमाम भारत को निशाना बनाने वाले विदेशी इस्लामी आतंकवादियों तक की खुली जयकार करते रहे हैं। हमारे ‘अल्पसंख्यक’ नेताओं की भाषा से ही पता चल जाता है कि कौन कितने पानी में है।

यह कोई स्थिर स्थिति भी नहीं। दिनोंदिन इस्लामी दबाव भारतीय सामाजिक-राजनीतिक-कानूनी-शैक्षिक आदि क्षेत्रों में बढ़ रहा है। प्रस्तावित कानून इसी का संकेत है। हमारे अधिकांश नेता, पत्रकार और बुद्धिजीवी अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक का पूरा हाल जानते हैं। पर बोलते कुछ और हैं। एक विचित्र दुरभिसंधि जो मानो पूरे देश को शतुरमर्ग बनाने पर तुली है।

फिर भी, कभी-कभी इस्लामी दबाव से अकुलाहट के कारण सच मुँह से निकल जाता है। जुलाई, 2003 में केरल के तत्कालीन मुख्यमंत्री और वरिष्ठ कांग्रेस नेता ए. के. एंटोनी, जो स्वयं ईसाई समुदाय से हैं, ने इसे स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया था। उनके अनुसार, “केरल में अल्पसंख्यक शक्तिशाली रूप से संगठित हैं। उन्होंने दबाव से बहुत अधिक सुविधाएँ और लाभ उठा लिए हैं। राज्य के राजनीतिक, प्रशासनिक स्तर में उनका दबदबा है। यह उचित नहीं है। मुसलमानों को इससे होने वाले हिंदू असंतोष पर ध्यान देना चाहिए और संयम बरतना चाहिए।” (इंडिया टुडे, 28 जुलाई, 2003)।

श्री एंटोनी ने केरल की बात की थी, किंतु पूरे देश में यह ‘अनुचित’ मुस्लिम दबाव महसूस किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कुलदीप सिंह ने भी एक बार कहा था, “भारत में सेक्यूलरिज्म को सांप्रदायिकता सहन करने में, उसका बचाव करने में बदल कर रख दिया गया है। अल्पसंख्यकों को समझना होगा कि वे उस संस्कृति, विरासत और इतिहास से नाता नहीं तोड़ सकते, जो हिंदू जीवन शैली से मिलता-जुलता है।... अल्पसंख्यकवाद को राष्ट्र-विरोध का रूप लेने की अनुमति नहीं दी जा सकती।” इस कथन से स्पष्ट दीखता है कि अल्पसंख्यकवाद राष्ट्र-विरोध का रूप लेता रहा है।

उदाहरणार्थ, मार्च, 2006 में अमेरिकी राष्ट्रपति बुश की भारत यात्रा के दौरान यहाँ विभिन्न शहरों में जोरदार प्रदर्शन हुए कि भारत की विदेश नीति अंतर्राष्ट्रीय इस्लामी चाहत के अनुरूप ढाली जाए। माँग इतनी जोरदार थी कि राष्ट्रीय जिम्मेदारियाँ उठाए हमारे कई नेता बुश की पूरी भारत यात्रा के दौरान गायब ही रहे। ऐसे सत्ताधारी नेता भी जिन पर ठीक देश के वैदेशिक संबंधों को सँभालने की जिम्मेदारी थी! मगर जॉर्ज बुश के साथ उनकी फोटो न आ जाए, इस डर से वे अपनी ड्यूटी छोड़कर अंतर्धान हो गए। यह किस समुदाय से डर था? और क्यों?

ऐसी लज्जाजनक स्थिति भारत में ‘अल्पसंख्यक’ समुदाय के पीड़ित होने या भेदभाव झेलने का संकेत नहीं देती। यह तो एक ऐसी दबंगई का प्रमाण है जिससे सभी डरते हैं। नेता, पत्रकार, व्यापारी, उद्योगपति सभी। चाहे वे लज्जावश इसे स्वीकार न करें, किंतु विदेशी भी यहाँ की सच्चाई समझते हैं। सऊदी अरब के विदेश मंत्री सऊद अल-फैजल ने एक बार स्पष्ट कहा भी कि भारतीय मुसलमान कोई अल्पसंख्यक नहीं हैं, जिन्हें किसी बाहरी मदद की जरूरत हो। वे स्वयं सशक्त और समर्थ हैं।

सन् 2006 में यहाँ सुप्रीम कोर्ट ने संज्ञान लिया कि देश में शरीयत कोर्ट जैसा समानांतर इस्लामी कानून-तंत्र अवैध रूप से फैलाया जा रहा है। इमराना, जरीना, गुड़िया आदि युवतियों पर उलेमा के बेधड़क अत्याचार के संदर्भ में यह बात उठी थी। कोर्ट ने कहा कि व्यवस्थित प्रयास हो रहा है कि शरीयत कोर्टों को पहले चुपचाप

इतना विस्तृत रूप दे दिया जाए कि गंभीर प्रश्न उठने पर कोर्ट और सरकार के पास इस स्थिति को अब 'हो चुकी घटना' (*fait accompli*) मानने के सिवा कोई चारा न रहे। जब सुप्रीम कोर्ट ने इस पर पूछा तो हमारे शासक कुछ स्पष्ट कह नहीं पाए। (सेंट्रल क्रॉनिकल, 28 मार्च, 2006)। आए दिन ऐसे समाचार आते हैं जिनमें मुस्लिम समुदाय के प्रतिनिधि संविधान या न्यायालयों की खुली उपेक्षा करते हैं चाहे वे वैयक्तिक विषय हों या सामाजिक, कानून-व्यवस्था का प्रश्न हो या जब-तब धमकाऊ बयानबाजियाँ।

कहीं नहीं प्रतीत होता कि सैयद शहाबुद्दीन से लेकर इमाम बुखारी, हाजी याकूब या यह या वह अब्दुल्ला जैसे विभिन्न कद और मिजाज के अल्पसंख्यक न्यायपालिका की भी परवाह करते हों। क्या यह 'अल्पसंख्यक' की वही छवि है जो प्रस्तावित सांप्रदायिक कानून में गढ़ी गई है? वास्तविक छवि उलटी है। भारत में मुस्लिम समुदाय की संगठित शक्ति से राजनीतिक दल, न्यायपालिका, मीडिया सभी आशंकित रहते हैं; उचित कार्य से भी कतराते हैं यदि मुस्लिमों के भड़कने का खतरा हो। जबकि हिंदू धर्म से लेकर हिंदू संगठनों, नेताओं को भी जब चाहे दो लात लगाने से किसी को रंच मात्र संकोच नहीं होता। अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक के संबंध में यह कड़वा सत्य सभी जानते हैं। उसी तरह व्यवहार भी करते हैं।

किसी बाहरी व्यक्ति को यह अटपटा लग सकता है कि किसी लोकतंत्र में ऐसी विचित्र स्थिति हो। किंतु बात अटपटी है नहीं। हिंदुओं की धर्म-चेतना व्यक्तिगत और अंतर्मुखी है। उन्होंने कभी अपने को मत-विश्वास पर संगठित नहीं किया, न किसी को मतांतरित करने का कोई उद्देश्य ही रखा, न साम्राज्यवादी विस्तार की सोची। अतः विभिन्न कारणों से हिंदू अपने आपको एक समुदाय के रूप में कम ही देखते हैं।

इसलिए व्यवहारतः प्रत्येक हिंदू स्वयं को एक प्रकार से अल्पसंख्यक ही समझता है। पूछ कर देखें तो हरेक हिंदू को कोई न कोई शिकायत ही है। कोई जातिगत दुर्व्यवहार से पीड़ित महसूस करता है, तो कोई आरक्षण से, कोई सत्ता में पर्याप्त भागीदारी न मिलने से, तो कोई विचारधारा के नशे में हिंदू धर्म को ही रोज जली-कटी सुनाता है। मणिशंकर अय्यर से लेकर राजेंद्र यादव और डी.एन. झा तक ऐसे विचारधाराग्रस्त हिंदू हर बुद्धिजीवी मंच पर बहुतायत से मिलेंगे, जो 'गोमांस खाने पर गौरव' करते हों या हनुमान को 'पहला आतंकवादी' बताते हों। ऐसी विविध भावनाओं से ग्रस्त हिंदू नेतांत विखंडित हैं। वे बहुसंख्यक के रूप में न महसूस, न व्यवहार करते हैं। इसीलिए सभी राजनीतिक दल 'अल्पसंख्यक'-मोह से ग्रस्त हैं, क्योंकि उन्हें बहुसंख्यक की दयनीय स्थिति मालूम है।

सच तो यह है कि हिंदुओं की सामाजिक दुर्बलता स्वतंत्र भारत में दूर होने के बदले कुछ बढ़ ही गई है। इसका स्वयं परीक्षण कर सकते हैं। परतंत्र भारत में हमारी सामाजिक समस्याओं पर जो बातें अनेक मनीषियों ने कही थीं, आज स्वतंत्र भारत में

उन्हें उद्धृत करना भी मना हो गया है। स्वामी दयानंद, बंकिमचंद्र, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद, रवींद्रनाथ, लाला लाजपत राय, वीर सावरकरयहाँ तक कि महात्मा गाँधी और डॉ. भीमराव आंबेडकर तक की अनेक सुचिंतित बातें अब छिपाई जाती हैं। वे बातें आज भी प्रासंगिक हैं, किंतु उनके उल्लेख पर अघोषित प्रतिबंध है। इसके पीछे विखंडित हिंदुओं की वही भीरुता और कायरता है जिसे मिटाने का उन मनीषियों ने बार-बार आह्वान किया था।

उदहरणार्थ, ऊपर उद्धृत उसी व्याख्यान में रवींद्रनाथ ठाकुर कहते हैं, "विशेष प्रयोजन न होने पर भी हिंदू एक दूसरे पर आघात करते हैं और प्रयोजन होने पर भी किसी परकीय पर आघात नहीं करते। इसके विपरीत मुसलमान प्रयोजन न होने पर भी अपनी रक्षा के लिए एक हो जाते हैं और प्रयोजन हो तो दूसरों पर तीव्र आघात कर सकते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि मुसलमान का शरीर ताकतवर है, हिंदू का शरीर कमजोर, कारण यह है कि मुसलमानों का समाज शक्तिशाली है, हिंदुओं का नहीं। एक पक्ष आभ्यंतरित रूप से प्रबल है, दूसरा निर्जीव।"

कोई भी सत्यनिष्ठ अवलोकनकर्ता देखेगा कि सौ वर्ष पहले की यही स्थिति आज भी यथावत है। कश्मीर और गुजरात पर देश के हिंदुओं और मुसलमानों के समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया इसका तुलनात्मक उदाहरण है। हिंदू ('सेक्यूलर') बुद्धिजीवियों का बहुत बड़ा हिस्सा निर्बल हिंदूवादियों पर जितना आघात करता रहता है, उसका शतांश भी कश्मीर से केरल तक के जिहादियों-हत्यारों और इस्लामी उग्रवादी नेताओं पर नहीं करता। दूसरी ओर, उदारवादी मुस्लिम भी इस्लामी आतंकवादियों को किसी न किसी प्रकार ढाल देने में तनिक भी संकोच नहीं करते। यदि कथित बहुसंख्यक हिंदू समाज की बरायनाम सामाजिक दुर्बलता को खुलकर स्वीकार नहीं किया जाता और उसका कोई उपाय नहीं किया जाता, तो निश्चय मानिए कि पूरे भारत के हिंदू उसी सीमाप्रांत के सवर्ण हिंदू वाला, या 1989 से पहले वाले कश्मीरी पंडित वाला जीवन जी रहे हैं।

दूसरी ओर, कथित अल्पसंख्यकों के मजहबी विचार सचेत संगठन, राजनीतिक विस्तार और इसके लिए छल-प्रपंच तक में विश्वास रखते हैं। यूरोप में चलते ईसाई-मुस्लिम संवाद में उनके प्रतिनिधि कहते भी हैं कि वे कोई 'शाकाहारी' रिलीजन नहीं कि लड़ने-भिड़ने और सत्ता के लिए टकराने की उनकी परंपरा है। यह भाव भारत के अल्पसंख्यक नेताओं में भी है। उनकी रणनीतियाँ परिस्थितिवश भले भिन्न हों, किंतु संगठित आक्रामक मुद्रा में रहना उनका स्वभाव है। इसीलिए पोप दिल्ली में खड़े होकर (नवंबर 1999) पूरे भारत को ईसाइयत में धर्मांतरित करने 'आत्माओं की फसल' काटने का खुला आह्वान करते हैं। तो कई मुस्लिम संसद में खड़े होकर पुनः देश-विभाजन की धमकी देते हैं और कोई हिंदू प्रतिक्रिया नहीं होती। क्योंकि हिंदू कहकर कोई संगठित समूह है ही नहीं!



यह महत्वपूर्ण तथ्य स्वयं हमारी सुप्रीम कोर्ट ने भी नोट किया है। 'बाल पाटिल तथा अन्य बनाम भारत सरकार' (2005) मामले में निर्णय देते हुए न्यायाधीशों ने स्पष्ट लिखा, "हिंदू शब्द से भारत में रहनेवाले विभिन्न प्रकार के समुदायों का बोध होता है। यदि आप हिंदू कहलाने वाला कोई व्यक्ति ढूँढना चाहें तो वह नहीं मिलेगा। वह केवल किसी जाति के आधार पर ही पहचाना जा सकता है। ...जातियों पर आधारित होने के कारण हिंदू समाज स्वयं अनेक अल्पसंख्यक समूहों में विभक्त है। प्रत्येक जाति दूसरे से अलग होने का दावा करती है। जाति-विभक्त भारतीय समाज में लोगों का कोई हिस्सा या समूह बहुसंख्यक होने का दावा नहीं कर सकता। हिंदुओं में सभी अल्पसंख्यक हैं।"

उक्त निर्णय में 1947 में देश के विभाजन का उल्लेख करते हुए न्यायाधीशों ने कहा कि अंग्रेजों द्वारा धार्मिक आधार पर किसी को अल्पसंख्यक मानने और अलग निर्वाचक मंडल बनाने आदि कदमों से ही अंततः देश के टुकड़े हुए। इसीलिए न्यायाधीशों ने निर्णय में चेतावनी भी दी, "यदि मात्र भिन्न धार्मिक विश्वास या कम संख्या या कम मजबूती, धन, शिक्षा, शक्ति या सामाजिक अधिकारों के आधार पर भारतीय समाज के किसी समूह के 'अल्पसंख्यक' होने का दावा स्वीकार किया जाता है, तो भारत जैसे बहु-धार्मिक, बहु-भाषाई समाज में इसका कोई अंत नहीं रहेगा।" न्यायाधीशों ने 'धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यक होने की भावना को प्रोत्साहित करने' के प्रति विशेष चिंता जताई, जो देश में विभाजनकारी प्रवृत्ति बढ़ा सकती है।

क्या सोनिया जी की निजी 'राष्ट्रीय सलाहकार परिषद्', अपने घातक प्रस्तावों से यही काम नहीं कर रही है? अधिकांश राजनीतिक दल भी वही करते हैं। अभी-अभी हुई राष्ट्रीय एकता परिषद् मीटिंग में कइयों ने विधेयक का विरोध किया, किंतु केंद्र-राज्य संबंध विकृत होने के आधार पर। इसके हिंदू-विरोधी होने की बात शायद ही किसी ने की। क्योंकि भारतीय राजनीति में 'अल्पसंख्यक'-वाद एक कैंसर-सा रोग बन चुका है। देश के संसाधनों पर 'मुस्लिमों का पहला अधिकार' जैसी विभेदकारी प्रस्थापनाओं के बाद अब मजहब-आधारित आरक्षण देने की तैयारी चल ही रही है। रामविलास पासवान जैसी हस्ती ने केंद्रीय मंत्री पद से टेलीविजन पर कहा था, "मैंने अफसरों को कह दिया है कि यदि कोई आवेदन किसी अल्पसंख्यक का है तो उसे तुरंत स्वीकृत कर दो। नियम आदि मैं देख लूँगा।"

इसलिए बात यह है कि मुस्लिम समुदाय की विशेष सेवा करने की प्रतियोगिता में विभिन्न नेता और राजनीतिक दल न्याय और नैतिकता ही नहीं, संविधान एवं कानून को भी ताक पर रखने लगे हैं। क्योंकि मुस्लिम समुदाय ही सशक्त समुदाय है। मुस्लिम नेता भी यह बखूबी जानते हैं। प्रस्तावित विधेयक उनकी आक्रामक शक्ति कई गुने बढ़ाने वाला है। फिर परिणाम क्या होगा, इसके लिए सुप्रीम कोर्ट का उक्त निर्णय पढ़ लें।

वस्तुतः सदियों से भारत में हिंदू ही दबे-कुचले विवशता में जी रहे हैं। आज भी उन क्षेत्रों में तो उन्हें हिंसा, अपमान झेलना ही पड़ता है जहाँ उनकी संख्या कम है। परंतु पूरे देश में उनके हितों की खुली अनदेखी होती है। सुप्रीम कोर्ट के निर्णय के अनुसार भारत में 'अल्पसंख्यक' की अवधारणा प्रांतीय आधार पर की जाती है। किंतु जम्मू कश्मीर में हिंदुओं को उजाड़ ही दिया गया, किसी सुविधा की तो बात ही क्या! उसकी तुलना दूसरे अल्पसंख्यकों को मिलने वाली विशेष सुविधाओं से करें। यहाँ किसी भी प्रांत, यानी पूरे देश में, 'अल्पसंख्यक' रूपी मुस्लिमों और ईसाइयों को कई ऐसी सुविधाएँ और विशेषाधिकार प्राप्त हैं जो हिंदुओं, कथित बहुसंख्यकों को नहीं हैं। यह स्थिति पूरे विश्व में कहीं नहीं है!

इसलिए कानून तो वह बनना चाहिए जो इस राजनीतिक, कानूनी असंतुलन को दूर करे। बहुसंख्यकों को भी वह अधिकार मिले, जो अल्पसंख्यकों को हैं। जैसे शिक्षा में अपने धर्म-ग्रंथों को शामिल करने, मंदिरों को सरकारी नियंत्रण से मुक्त करने, आदि।

मगर सांप्रदायिक हिंसा रोकने के नाम पर बनने वाला यह प्रस्तावित कानून हिंदुओं को एक सीढ़ी और नीचे गिराएगा। यह मूर्खतावश हो रहा है या षड्यंत्रपूर्वक, या दोनों ही कारणों से, इसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है। किंतु ऐसा विभेदकारी, देश-घाती कानून बनने का परिणाम निस्संदेह अनिष्टकर होगा।

## कला : अर्थ, स्वरूप, दर्शन

योगेश शर्मा\*

कला विषयक अवधारणा को आधार बनाकर भारतीय साहित्य चिंतन में विस्तार से विचार किया गया है। बुद्धघोष, अभिनवगुप्तपादाचार्य, आनंद वर्द्धन आदि आचार्यों ने अपने ग्रंथों में कला के संबंध में सौंदर्यशास्त्रीय आवश्यकताएँ प्रतिपादित की हैं।

‘विष्णुधर्मोत्तर’ एवं ‘कामसूत्र’ पर यशोधर ने काव्य एवं कला के संबंध में सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में उच्च कलात्मक प्रतिमान प्रस्तुत किए हैं। लय, संतुलन, अनुपात, सुसंगत और सामंजस्य संतुलित व सुसंस्कृत जीवन कला के निर्धारक तत्त्व हैं। कला-सृजन व कला के आस्वादन से मानव आत्मा का संस्कार होता है।

व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से कला शब्द भ्वादिगणी कल धातु (कल शब्दसंख्यानयोः) अथवा चुरादिगणी कल गतौ संख्याने ‘च’ से ‘घ’ प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। यहाँ संख्यान् का अर्थ परिगणन नहीं है। यह शब्द यहाँ पर व्यक्त, स्पष्ट कथन, स्पष्ट अभिव्यक्ति और विशद दृष्टिपरक अर्थ से अभिप्रेत है। ‘तत्त्वबोधिनी’ में इसका गूढार्थ के स्पष्ट प्रतिपादन एवं विवरण (गूढार्थरूप-स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थे विवरणे) के रूप में उल्लेख किया गया है।

कला शब्द व्यापक चिंतन का परिचायक है। कौशल इस शब्द में सन्निहित है। मानसिक विचारों का विशद प्रकाशन भी कला शब्द में अधिष्ठित है। भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन में इसके प्रयोग एवं स्वरूप के विषय में किंचित् भेद की प्रतीति होती है। कला को पाश्चात्य चिंतन में अनुकरण मूलक माना गया है। कला भौतिक सत्ता की अभिव्यक्त का माध्यम, बाह्य प्रभाव की अभिव्यक्ति, बौद्धिक कल्पना, अर्द्धचेतन मस्तिष्क की क्रिया आदि अवधारणाएँ इसके विषय में पश्चिमी दृष्टि की उपज है। कला का संबंध लौकिक जगत् से ही है, यही पश्चिमी विद्वानों का मत है।

भारतीय चिंतन में कला विषय दृष्टि विस्तृत रही है। कला सर्जक का वस्तु के बाह्य रूप की तुलना में आंतरिक या आत्म रूप से अधिक संबंध है। वस्तु में लीन

\* शोध-छात्र, संस्कृत अध्ययन का विशेष केंद्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

‘सूक्ष्म-सुभग-तत्त्व’ को अंतर्दृष्टि एवं प्रतिभा संपन्न रचयिता वाणी से उभार कर प्रकाशन करता है।<sup>1</sup>

भारतीय रस सिद्धांत के द्वारा कला चिंतन में दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठापना हुई है। ‘आत्माभिनयं भावो’<sup>2</sup> आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्मचैतन्य में विश्रान्ति प्राप्त हो जाने पर रस रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस प्रकार विश्व के रूप में विश्वात्मा अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार विभिन्न कलाओं के रूप में रस का विस्तार होता है। भारतीय दृष्टि का स्पष्ट कथन जयशंकर प्रसाद के लेखन में देखा जा सकता है।

“प्लेटो इसलिए अभिनेता में चरित्रहीनता आदि दोष नित्यसिद्ध मानता है क्योंकि वे क्षण-क्षण में अनुकरणशील होते हैं, सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। किंतु भारतीयों की दृष्टि भिन्न है। उनका कहना है कि आत्मा के अभिनय को, वासना या भाव को अभेद आनंद के स्वरूप में ग्रहण करो। इसमें विशुद्ध दार्शनिक अद्वैत भाव का भोग किया जा सकता है। यह देवतार्थना है। आत्म-प्रसाद का आनंद पथ है। इसका आस्वाद ब्रह्मानंद है।”<sup>3</sup>

भारतीय चिंतन में कला का स्वरूप आध्यात्मिक है। ‘आनंद कुमार स्वामी’ ने कला को योग के तीन रूपों से संबद्ध माना है धारण (वित्त का देशबंध), ध्यान (ध्येय विषयक प्रत्यय की एकतानता समाधि), चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था (ध्यान की ध्येयाकार निर्मास स्थिति)। इन तीन रूपों में प्रथम दिव्य आदर्श, द्वितीय साधना विधि और तृतीय चरम प्रयोजन कला को योग का स्थान प्रदान करते हैं। भारतीय शास्त्रीय परंपरा में कलाकार को योगी, साधक एवं मंत्रिन् आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। आनंदकुमार स्वामी ने बौद्ध ध्यान पद्धति के द्वारा कला सृजन की प्रक्रिया का सुंदर पक्ष प्रस्तुत किया है।<sup>4</sup> कला सर्जक की स्थिति एक साधक की भाँति होती है। वह कला निर्माण के समय एकाग्रचित होकर अपनी प्रतिभा (अंतः प्रेरणा) से अंतस्थ विचार, भावना एवं प्रतीति का समावेश करता है। प्रेरणा एक सात्त्विक स्थिति है अतः काल विशेष में भी रचयिता समाहित हो जाता है विषय पर एकाग्र हो जाता है। इसीलिए काव्य हेतुओं के अंतर्गत ‘समाधि’ का उल्लेख भी किया गया है। महाकवि कालिदास ने ‘समाधि शैथिल्य’ को बहुत बड़ा दोष माना है।<sup>5</sup>

कवि का रचनाक्रम इसी समाधि में संपन्न होता है। प्रतिभा (अंतः प्रेरणा) से कलासर्जक के समस्त अतीत और अनागत वर्तमान हो जाते हैं।<sup>6</sup> कलासर्जक की स्थिति विश्वसृष्टा की भाँति है। ध्यानावस्थित विश्वसृष्टा समस्त विश्व का निर्माण करता हुआ आनंद का अनुभव करता है। समस्त देश काल उसके लिए वर्तमान हो जाते हैं। संपूर्ण परिस्थितियाँ उसके ही आश्रित हो जाती हैं। जैसे विश्व की वह कल्पना करता है, अपनी प्रतिभा शक्ति से वैसा ही वह अभिव्यक्त भी कर देता है।

कलासर्जक की भी यही स्थिति है। कलाकृति के रूप में वह ध्यानावस्थित होकर आत्मगत भावों को स्वयं की प्रतिभा शक्ति से प्रकाशित करता है। प्रतिभा कलाकार के मनोगत भावों का ही प्रतिफलन है न कि किसी बाह्य विषय का। उसे जिस रूप का प्रकाशन कलाकृति में करना है पूर्व में वह उस स्थिति में रहकर ध्यानावस्थित होता है। उसका वह अनुभव ही पूर्णतः कला रूप परिणाम है। कला निर्माण में ध्यान सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। 'शुक्रनीतिसार' में ध्यान के लिए प्रतिभा रूपी साधन का स्पष्टतः उल्लेख किया गया है।

“प्रतिभा बनाने वाला मनुष्य जैसा ध्यान में लीन हो जाता है वैसा अन्य मार्ग से या देवता के प्रत्यक्ष दर्शन से भी ध्यान में लीन नहीं हो सकता।”

भारतीय शास्त्रीय परंपरा में कई कलाओं का उल्लेख किया गया है जिससे कला की परिभाषा में अंतर स्पष्ट होता है। 'शुक्रनीतिसार'<sup>8</sup> में वाणी से किए जाने वाले कर्म को विद्या व गूंगा भी जो कर सकता है उसे कला की संज्ञा दी गई है।

भागवत पुराण, महाभारत, कामसूत्र आदि ग्रंथों में कलाओं की जो सूचियाँ दी गई हैं उनसे स्पष्ट है कि उस काल में कुशलतापूर्वक किए जाने वाले प्रत्येक कार्य को कला माना जाता था अर्थात् मनुष्य द्वारा बनाई गई प्रत्येक कृति कला है यदि वह कुशलता का प्रमाण है। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में आचार्य सायण ने 'कारू' शब्द को व्याख्यात किया है (कारू स्वयं कर्तारौ) स्वयं काम करने वाले। उन्होंने कर्म कौशल को स्पष्टतः कला कहा है (शिल्पं कर्म कौशलम्)। यहाँ शिल्प शब्द कलाबोधक ही है। पूजा में पढ़े जाने वाले प्रशंसनात्मक गायन को भी शिल्प कहा गया है। 'कौटिल्येय अर्थशास्त्र' में स्त्रोत, नृत्य, गीत, वादन को भी शिल्प कहा गया है। इससे भारतीय दार्शनिकों का कला के प्रति अति व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। सृष्टि रचना के अंतर्गत मूल तत्त्वों के अनुसार तादात्म्य के साथ की गई रचना ही कला के स्तर को प्राप्त करती है। तादात्म्य से निर्मित कृति सत्य, सुंदर एवं शिव होती है तो बिना तादात्म्य के निर्मित कृति भ्रामक, असुंदर एवं अहितकर। 'प्रश्नोपनिषद्' में परमेश्वर के प्रकट स्वरूप सृष्टि रचना के सोलह मूल तत्त्वों का उल्लेख किया गया है तथा उन्हें सोलह कलाएँ कहा गया है। इस प्रकार पाणिनि के पूर्वकाल में उपनिषद् में भी व्यापक अर्थ से कला शब्द का प्रयोग हुआ है। उपनिषद् के अनुसार ये कलाएँ हैं प्राण (आत्मा), श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि), पंच महाभूत (शरीर), मन, इंद्रियाँ (5 ज्ञानेन्द्रियाँ 5 कर्मेन्द्रियाँ), अन्न (संधारण), तप (संयम), वीर्य (बल), मंत्र (आचार संहिता), कर्म (कर्तव्य), लोक (समाज), नाम (ऊँ मूर्तरूप)। “इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेता षोडशः कलाः प्रभवन्तीति”<sup>9</sup> से स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि कला आत्मगत होती है और प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है।

भारतीय साहित्य में कलाओं की सूची बहुत लंबी है जिन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है।

1. जीवनोपयोगी कलाएँ दैनिक जीवन में जिन कार्यों को कुशलता से किया जाता है जैसे पाक कला, केश सज्जा, सफाई इत्यादि।

2. सौंदर्यमूलक ललित कलाएँ मनुष्य की सहजात इच्छाओं में एक इच्छा अपनी रचना में अभिव्यक्ति में स्वयं को देखने की रहती है इसी में 'अरूप' की रूपात्मक अभिव्यक्ति का भाव निहित है।

कलाकार कलाकृति में कुछ ऐसा भी करता है जिससे उपयोगिता चरितार्थ हो जाती है। उसकी इस अतिरिक्त क्रिया में कुछ अतिरिक्त दर्शन और पाने की अभीप्सा रहती है यही अतिरिक्त अभीप्सा (सौंदर्याभीप्सा) ललित की जननी है। इसी को भारतीय चिंतन में आत्मदर्शन कहा गया है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने भारतीय कला के विषय में लिखा है कि

“दो उदाहरणों से भारतीय कला चिंतन की पहचान और स्पष्ट हो जाएगी। एक उदाहरण है चित्रकला का और दूसरा नृत्य कला का। दोनों का वर्णन कविकुल गुरु कालिदास की कृति में विद्यमान है। इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट होगा कि कैसे कला क्षेत्र का वर्णन केवल वाङ्मय की अन्य शाखाओं की तरह मात्र अपना 'ज्ञान' कराकर नहीं रह जाता बल्कि अपने में लय करा देता है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अथवा 'जानत तुमहि तुमहि होई जाई' भारतीय अध्यात्म का यह सत्य कला के क्षेत्र का भी सत्य है।”<sup>10</sup>

संपूर्ण भारतीय चिंतन जीवन के प्रमुख लक्ष्य 'स्वरूप बोध' से संबद्ध हैं। स्वरूप है चिदानंदमय-रसमय। काव्यादि कलाएँ भी व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रस्थान की तरह उसी ओर ले जाने वाला एक प्रस्थान है। मूर्ति, स्थापत्य और चित्र ये दृश्यकलाएँ हैं जिनकी गणना ललित कलाओं में होती है।

इस प्रकार, काव्य, मूर्ति, चित्र, स्थापत्य, संगीत एवं नृत्य ललित कलाएँ हैं। कला निर्मित एवं ग्रहण दोनों स्थितियों में समाधि सापेक्ष है। सामाधिक शैथिल्य में न प्रभावी निर्मित संपन्न हो सकती है और न ही ग्रहीति। 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाट्य काव्य में मालविका का नृत्य-चित्र इसका उत्तम उदाहरण है।

*अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः*

*पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसस्य*

*शाखायोनिर्मदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ*

*भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव*<sup>11</sup>

मालविका नृत्यगुरु गणदास द्वारा निर्णायक परिव्राजिका से मालविका के नृत्य के संबंध में पूछने पर परिव्राजिका द्वारा कहा गया “यथादृष्टं सर्वमनवद्यम्” क्योंकि गीत के सब भावों का ठीक-ठीक अर्थ अंगों के अभिनय से सम्यक् रूप से दिखा दिया

गया है। पदन्यास भी लयबद्ध था। चेतना में संक्राम्य रस से तन्मयी भवन की स्थिति थी। कलाकार और सहृदय दोनों की मनोदशा एक ही होती है किंतु सहृदय निमग्न है वह अभिनय किया में प्रवृत्त नहीं होता है। इसके विपरीत नट को एक तरफ इस मनोभाव में आरूढ़ भी रहना है तो दूसरी ओर आभ्यासिक प्रतिभा से अनुरूप अभिनय में उतरना भी है। परिणामतः नट की चेतना विषयांतर से व्यावृत्त प्रस्तुति पर संकेंद्रित रहती है और सहृदय की स्थिति भी विगलित वेद्यान्तर हो जाती है। भारतीय कला चिंतन की यही प्रमुख विशेषता है कि वह कला-सर्जन, प्रस्तुति और ग्रहीति तीनों स्तर पर रसमय होती है। द्वितीय उदाहरण चित्रकला का है जो 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' से है। विरह विनोदन हेतु दुष्यंत द्वारा शकुंतला का चित्र बनवाया गया। इसमें विशिष्ट भाव दशा की विशिष्ट मुद्रा का अंकन किया गया। चित्र बनाते समय चित्रकार शकुंतला की भावभूमि में समाधिस्थ था तथा उसके भावों से दुष्यंत की चेतना तन्मयभाव तक पहुँच पाई। जब तक कलाकार स्वयं निस्संग भाव से समाधिस्थ होकर रस विशिष्ट भूमि में नहीं पहुँचता तब तक वह सहृदय सामाजिक को उस भाव भूमि के दर्शन नहीं करा सकता। रस (करुण और शांत) की भूमि कलागत भारतीयता की पहचान है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों उदाहरण भारतीय कला परंपरा को दार्शनिक, अनुभवात्मक एवं साधनात्मक पक्ष का स्पष्ट उद्घाटन करते हैं। आचार्य भरत से लेकर आधुनिक काल में आनंद कुमार स्वामी तक सभी साहित्यशास्त्रियों ने एवं कुछ दर्शनशास्त्रियों ने अपने-अपने ग्रंथों में रूपकों, अलंकारों के माध्यम से एवं स्वतंत्र विषयनिष्ठ चर्चा करके कला को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

संस्कृत साहित्य के आदिमहाकाव्य 'रामायण' में 'मय' नामक शिल्पी द्वारा निर्मित सीता की स्वर्ण प्रतिमा, रथों की साज-सज्जा, भित्ति-कक्षों, पुष्पक विमानों पर चित्रांकन, चित्र सुशोभित कैकेयी के राजप्रसाद, बाली व रावण की चित्र सज्जित शव-पालकियाँ, चित्रशाला गृह आदि से रामायणकालीन कला अभिरुचि का बोध होता है। स्थापत्य तथा कला के अन्य अंगों (नृत्य, रंगमंच) आदि का भी रामायण में पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

'महाभारत' में सत्यवान् द्वारा घोड़ों का, सभागृह, लाक्षागृह का निर्माण आदि वर्णन तत्कालीन कला स्थिति का बोध कराते हैं। रूप भेदों पर प्रकाश डालते हुए 184वें अध्याय में 19 प्रकार के रूप बताए गए हैं।

आचार्य पाणिनी ने 'अष्टाध्यायी' में शिल्प को दो भागों में विभाजित किया है—'चारु अर्थात् ललित (2) कारु अर्थात् उद्योग। इसमें पशु-पक्षी, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि के सांकेतिक लक्षण एवं उनको अंकित करने की विधि का भी उल्लेख मिलता है।

आचार्य वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' को संपूर्ण कलाकोश माना जाता है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इसके विषय में यही कहा जा सकता है कि कलाओं

का सर्वप्रथम क्रमबद्ध रूप में उल्लेख इसी ग्रंथ में मिलता है। कामसूत्र में कलाओं की संख्या 64 बताई गई है। इनमें काव्य संगीत (गीत, वाद्य, नृत्य), आलेख्य अर्थात् चित्र, वस्तु, क्रियाकल्प तथा नाटकाख्यायिका दर्शन प्रमुख हैं। कामसूत्र टीका ग्रंथ यशोधर पंडितकृत 'जयमंगला' में कलाओं का वर्गीकरण भी किया गया है। मूल 2. आंतर। मूल में 64 कलाओं का उल्लेख है एवं आंतर में 518 कलाओं का उल्लेख है।

*अलंकार शास्त्र* एवं *रस सिद्धांत* के प्रतिष्ठापक भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में भी कला विषय अवधारणाओं पर दृष्टिपात् किया है। 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य को कलाओं में श्रेष्ठ एवं नाटक को वाङ्मय में श्रेष्ठ माना गया है तथा इसको नाट्य की अथवा काव्य की आत्मा माना गया है। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य के ब्याज से नृत्य, संगीत मंडप, रचना चित्र आदि कलाओं की विस्तृत विवेचना की है जिससे प्रतीत होता है कि संपूर्ण कलाओं के संदर्भ में रस निरूपण किया गया है।

शिल्प और कला-विषय विवेचन पुराणों में भी उपलब्ध है। रामायण के पश्चात् पुराणों में ही कला के स्वतंत्र विकास की योजना मिलती है। जीवन के सभी पक्षों (सामाजिक, ऐतिहासिक) आदि की चर्चा पुराणों में विशदता से की गई है। जीवन शैली को समझने हेतु उनमें कला के स्वतंत्र अध्यायों की व्यवस्था है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में चित्रकला का विस्तार से विवेचन मिलता है। 'अग्निपुराण' के 16 अध्यायों में भी शिल्प के अनुभागों का विस्तृत, अधिक वैज्ञानिक तथा अनुसंधानपूर्ण विवेचन है। 12 अध्यायों में पृथक् रूप से मूर्तिकला पर ही प्रकाश डाला गया है। 'मत्स्य पुराण' के 8 अध्यायों में शिल्प व कला का विवरण प्राप्त होता है। 'स्कंद पुराण' के माहेश्वर एवं वैष्णव नामक खंडों में शिल्प व कला की सामग्री उपलब्ध है तथापि 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' ही एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें चित्रकला एवं मूर्तिकला को स्वतंत्र स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है।

*विष्णु धर्मोत्तर पुराण* विष्णु पुराण के एक अंग के रूप में प्रसिद्ध है। यह षष्ठ शताब्दी का ग्रंथ है। इसके तीन खंड हैं। तीसरा खंड (35वें अध्याय से 43वें अध्याय तक) चित्रसूत्रम् नामक प्रकरण से प्रसिद्ध है।

'चित्रसूत्रम्' में वास्तुकला, मूर्तिकला एवं चित्रकला तीनों का विवेचन है। इसके साथ ही नृत्य व संगीत का भी वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। चित्रसूत्र के नौ अध्यायों में चित्रों के शारीरिक लक्षण, अंकन विधान आदि के तात्त्विक सिद्धांत हैं।

'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' के पश्चात् कला विषयक प्राविधिक सामग्री का विस्तृत विवेचन नग्नजित् के प्रौढ़ ग्रंथ 'चित्र लक्षण' (6-7वीं शताब्दी) में मिलता है। 'चित्रलक्षण' के मंगलाचरण में ग्रंथ को विश्वकर्मा एवं नग्नजित् द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों का संग्रह बताया गया है।

11वीं शताब्दी का 'समरांगण सूत्रधार' भी कला एवं शिल्प का प्रमुख ग्रंथ है। इसकी रचना राजा भोज ने की। इस ग्रंथ में 84 अध्याय हैं। इन 84 अध्यायों की विषय सामग्री 7 भागों में विभक्त है।

1. प्राथमिका, 2. पुरप्रवेश, 3. भवन निवेश, 4. प्रासाद निवेश, 5. प्रतिमा निर्माण, 6. यंत्र घटना, 7. चित्रकर्म

‘मानसोल्लास अभिलषितार्थ चिंतामणि’ (12वीं शताब्दी) सोमदेव विरचित ग्रंथ एक प्रकार का विश्वकोषात्मक ग्रंथ है। चित्रकला आदि के अतिरिक्त इसमें राजाओं के रहन-सहन की विधियों तथा उनके मनोरंजन की वस्तुओं का विराट वर्णन है। संस्कृत से प्राप्त ज्ञान एवं कला के लगभग सभी अंश इस ग्रंथ में उल्लिखित हैं। राज व्यवस्था, गणित, फलित ज्योतिष, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्य, संगीत, आयुर्वेद, वास्तुकला आदि अनेक विषयों का समावेश प्रस्तुत ग्रंथ में उपलब्ध है। इस ग्रंथ का जी.के. गोडकर की विस्तृत भूमिका के साथ गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, बड़ौदा से तीन भागों में प्रकाशन हुआ है।

गुप्तोत्तर कालीन ‘मानसार’ भी वास्तु और शिल्प का एक प्रमुख ग्रंथ है। इसके आरंभ में विश्वकर्मा को ब्रह्मा के मानस पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है। इस ग्रंथ में शिल्प (कला) 10 प्रकार के बताए गए हैं। 1. कृषि, 2. जल, 3. खान, 4. नौका, 5. रथ, 6. विमान, 7. वास्तु, 8. प्रकार, 9. नगर रचना, 10. यंत्र।

ये दस विभाग शिल्पशास्त्र के ही अंग हैं जिनमें वास्तु का भी स्थान है। संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में शिल्प को कला-कौशल के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मानसार में उन सभी शिल्पों का वर्णन है जिनका ललित कला से संबंध है।

14वीं शताब्दी का विद्यारण्य मुनि विरचित ‘पंचदशी’ नामक महान् वेदांतिक ग्रंथ भी कलाशास्त्र का प्रमुख ग्रंथ है। इसमें 15 प्रकरण हैं जिसमें ‘चित्रदीप’ नामक प्रकरण में चित्रशास्त्र के विधानों के आधार पर ब्रह्मत्व पर दार्शनिक विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से भारतीय साहित्य में कला के अंतःस्वरूप का विवेचन किया गया है।<sup>12</sup>

इन ग्रंथों के अतिरिक्त *शिल्प रत्न*, भवभूति का ‘उत्तररामचरित’, बाणभट्टकृत ‘कादंबरी’, हर्षचरित आचार्य दंडी का ‘दशकुमारचरित’, सोमदेवकृत ‘कथासारित्सागर’, कल्हण की ‘राजतरंगिणी’, जयदेवकृत ‘गीतगोविंद’, शारंगदेव का ‘संगीत रत्नाकर’ आदि में कला शास्त्र का पर्याप्त वर्णन मिलता है।

जैन साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में भी कलाशास्त्रीय चिंतन पर विचार किया गया है। भारतीय साहित्य परंपरा में एक विशेषता रही है कि वह परोक्षतः या अपरोक्षतः दार्शनिक अवधारणाओं से प्रभावित रहा है। जैन कला चिंतन अपने दार्शनिक सिद्धांतों स्याद्वाद (प्रत्येक दृश्यमान वस्तु एवं सत्य के अनंत पक्ष होते हैं इसलिए उसे अनेक दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है। परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति को केवल उसका आंशिक ज्ञान होता है। इस प्रकार किसी का भी मत पूर्णतः सत्य या असत्य नहीं हो सकता।) आदि से प्रभावित है।

जैन साहित्य में भी प्रमुख ग्रंथ ‘अनुयोगद्वारसूत्र’, हेमचंद्र विरचित ‘काव्यानुशासनम्’, ‘गीत गोविंद’, ‘नेमिनाथ चरित’, ‘सिद्धहेम’, ‘रतिरहस्य’ आदि कला को व्याख्यात करते हैं। बौद्ध साहित्य में ‘ललितविस्तर’, ‘जातक ग्रंथ’, ‘धम्मपद’, ‘बुद्धचरित’, ‘सौंदरानंदम्’ आदि प्रमुख ग्रंथ हैं जिनमें कलाविषयक उल्लेख मिलता है।

‘ललितविस्तर’ की रचना बुद्धघोष द्वारा की गई। यह ग्रंथ 27 अध्यायों (परिवृत्तों) में विभाजित है। ‘ललितविस्तर’ के शिल्प संदर्शन नामक 12वें परिवृत्त में राजकुमार सिद्धार्थ और शाक्य कन्या यशोधरा के विवाह का प्रसंग वर्णित है जिसमें कलाओं की संख्या 89 बताई गई है।

इस प्रकार भारतीय कला चिंतन की विस्तृत परंपरा रही है जहाँ भिन्न-भिन्न पक्षों को ध्यान में रखकर विचार किया गया है। कला की अवधारणा के विषय में तात्त्विक चिंतन, विभिन्न दार्शनिक प्रस्थान (शैव, बौद्ध, वेदांत) के सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में प्रकाश डाला गया है। भारतीय परंपरा में कलासर्जक-कलाकृति-कला ग्रहिता इस चक्र से कला पूर्ण होती है। कलाकार की दृष्टि से कला मानसिक विचारों का अभिव्यक्त एवं प्रकाशित रूप है। कलाकार कलानिर्माण हेतु प्रतिभा शक्ति पर आश्रित होता है। प्रतिभा कवि अथवा कलाकार की सर्जनात्मक शक्ति होती है। इसी सर्जनात्मक शक्ति से कवि एवं कलाकार प्रजापति होता है।

काव्य एवं कला का स्फुरण विरल प्रतिभा संपन्नो में ही परिलक्षित होता है। इंद्रियातीत, सूक्ष्म प्रसंग इसी प्रतिभा के कारण ज्ञान का विषय बन जाते हैं। प्रतिभा कलाकार की नैसर्गिक शक्ति है तथा काव्य एवं कला का मूल कारण ‘कवित्व-बीजम्’ है। यही सिसृक्षा भी है। कवि की सिसृक्षा ‘आनन्दोच्छलिता परा शक्ति’ रूप में परिणत होकर कवि एवं कलाकार के अंतस्थ लोकोत्तर अर्थ ज्योतियों को निश्चित वस्तु के रूप में आकार प्रदान कर, रूप संपदा से रूपायित कर, छंद और लय में बाँधकर कला एवं काव्य का निर्माण करती है।

कला विषयक अवधारणा का आधार शैव, बौद्ध, वेदांत के दार्शनिक सिद्धांत भी हैं। शैव, बौद्ध, वेदांत की पृष्ठभूमि कलात्मक भी रही है। उपर्युक्त दार्शनिक प्रस्थानों की साहित्य सरणि में कला एवं सौंदर्य से संबद्ध उल्लेख मिलता है। विद्यारण्यकृत ‘पंचदशी’ प्रमुख कला प्रधान ग्रंथों की श्रेणी में आता है। बौद्ध दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करने वाले प्रमुख ग्रंथ ‘बुद्धचरित’, ‘सौंदरानंद’, ‘ललितविस्तर’ आदि ग्रंथों को कला चिंतन के प्रतिनिधि ग्रंथ माना जाता है। शैव दर्शन (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) सौंदर्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र में तो अन्योन्याश्रय संबंध है। कश्मीर शैव को कला दर्शन भी कहा गया है।

शैव दर्शन की तत्त्वमीमांसा का बहुत संबंध ‘नाट्यशास्त्र’ के 36 अध्यायों से है। इसमें दर्शन प्रधान तत्त्व शिव तत्त्व को नटराज, कलाधर कहा गया है। इनकी

सृष्टि प्रक्रिया एवं कलासृष्टि में भी समानता का परिलक्षण होता है। प्रत्यभिक्षा दर्शन में जगत् को परमशिव का आभास माना गया है जो सत् है। परमशिव अंतस्थ जगत् को अपनी स्वातंत्र्य (प्रतिभा) शक्ति से एवं इच्छा शक्ति से संकल्पित होकर लोक में अभिव्यक्ति रूप में प्रकाशित करते हैं। इसी प्रकार कलासर्जक मानसिक विचारों का अपनी प्रतिभा शक्ति से कलाकृति के रूप में प्रकाशन करता है। अतः प्रत्यभिक्षा दर्शन का कार्य कारण सिद्धांत भी भारतीय कला की सृष्टि प्रक्रिया के सिद्धांत से समानता रखता है।

प्रत्यभिक्षा दर्शन में अनुगमात्मक शक्ति के रूप में कला को स्वीकृति दी गई है। प्रत्येक तत्त्व में अपने-अपने एक-एक वर्ग में कुछ ऐसी विशिष्टता का अनुगम होता है जिसके परिणामस्वरूप पर वर्ग से उनका व्यावर्तन या व्यवच्छेद हो जाता है। शिवशासन में उसी अनुगमात्मक गुण को कला कहते हैं।

*यथा पूर्वोक्त भुवनमध्ये निजनिजं गणम् ।  
अनुयत्परतो भिन्न तत्त्वं नामेति भण्यते ॥  
तथा तेष्वपि तत्त्वेषु स्ववर्गेऽनुगमात्मकम् ।  
व्यावृत्तं परवर्गाच्च कलेति शिवशासने ॥<sup>13</sup>*

परमहंस मिश्र ने तंत्रालोक की नीर क्षीर विवेक व्याख्या में इसे उदाहरण से भी स्पष्ट किया है।

‘पशुओं का झुंड जा रहा है।’ इस प्रयोग में सामान्यतया बिना वर्गीकरण के समस्त पशु समुदाय का अंतर्भाव हो जाता है। जब यह प्रयोग किया जाता है कि इन पशुओं में पशुओं के कई वर्ग हैं। किंतु इनके बीच में 100 पशु ऐसे हैं जिन्हें अश्व कहते हैं। अश्व का नाम लेने पर आगे और पीछे के पशुवर्ग से उनका व्यवच्छेद हो जाता है। यदि यह प्रयोग किया जाए कि आगे हिरन और पीछे गाय है तो इससे तीनों के पार्थक्य का प्रथम हो जाता है। इस प्रकार अश्वत्व, मृगत्व और गोत्व विशिष्ट पशुओं का परस्पर व्यावर्तन हो जाता है। जिस अध्या में परस्पर व्यावर्तन के ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं वह अध्या ही कलाध्या है और उसकी अनुगमात्मक शक्ति का नाम कला है।

कला के विषय में शैव दर्शन में दूसरा मत भी स्थापित है। ‘तत्त्वों के आंतरिक वैशिष्ट्य’ के रूप में विद्यमान एक आत्यंतिक सुसूक्ष्म शक्ति का उल्लास होता रहता है। वही सुसूक्ष्म शक्ति कला के नाम से जानी जाती है।

दृष्टांत के रूप में धरा में धारणा करने की शक्ति को लिया जा सकता है। धरिणी तत्त्व और धारिका उसकी शक्ति। जो परिलक्षित नहीं होती परंतु शाश्वत

प्रतीयमान है। उसी के बल पर धरा सृष्टि के समस्त वस्तु समुदाय को धारण कर चल रही है।

इस प्रकार प्रत्यभिक्षा दर्शन के अतनुसार कला एक विशेष प्रकार का गुण है जो वस्तु का अस्तित्व आधायक, उसकी पहचान जो दूसरों से उसे व्यावृत्त करे एवं ऊर्जस्वित शक्ति है जो लोक में तत्त्व विशेष का प्रकाशन करती है। भारतीय कला चिंतन में कला की यह शैवीय अवधारणा प्रमुख आधार है। सुसूक्ष्म शक्ति से प्रतिभा शक्ति की समानता है जिससे क्रियाशीलता का अनुभव होता है। उसी के आधार पर कलाकार के मनःस्थिति भाव लोक में वस्तु रूप में स्फुटित होते हैं। यही सुसूक्ष्म शक्ति शैव तत्वमीमांसा में परमशिव की विमर्श शक्ति के रूप में परिलक्षित होती है जिससे परमशिव संपूर्ण विश्व का आभासन करते हैं।

‘कश्मीर शैव दर्शन’ में 36 तत्त्वों में से कला भी एक स्वतंत्र तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। यह 7वाँ तत्त्व है तथा माया (आवरण शक्ति) का प्रथम उत्पाद है। कला तत्त्व उस आत्मा के साथ जुड़ा है जिसकी ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ आवृत्त हो चुकी हैं। कला व्यष्टिगत रूप से क्रियाशक्ति को अंशतः पुनः स्थापित करता है। प्रत्यभिक्षादर्शन कला को स्वतंत्र तत्त्व मानने का कारण परिमित आत्मा को परिमित क्रियाशक्ति लौटाने का स्वतंत्र कार्य इसके द्वारा संपादित किया जाता है। यह कार्य विशिष्ट है। पुरुष से विविकित रूप में कला तत्त्व का ज्ञान कर्म के बंधन (कार्ममल) से मुक्ति का आधार है। वयष्टि अथवा समष्टि दोनों ही प्रकार से कला का संबंध सर्जनात्मकता (क्रियाशक्ति) से है जिसका सीधा संबंध परम शिव एवं कलाकार दोनों से है। इसी को आधार बनाकर एक जगत् सृष्टि करते हैं तो दूसरा कला सृष्टि करता है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृत साहित्य में कला का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसमें कला का केवल उल्लेख ही किया गया है अपितु कला सिद्धांत, कला प्रयोग, कला परक अवधारणाएँ कलागत दर्शन एवं कला अनुभव आदि पर गंभीरता से प्रकाश डाला गया है।

## संदर्भ

1. “मत् किञ्चनापि वैचित्र्यं सौंदर्यम् तत्सर्वम् प्रतिभोद्भवम्” कुन्तक, *वक्रोक्तिजीवित*
2. *नाट्यशास्त्र* 26/39
3. जयशंकर प्रसाद
4. The artist (*Sadhaka, Mantrin, or Yogin*, as he is variously and significantly called) after ceremonial purification is to proceed to a solitary place there he is to perform the sevenfold office, beginning with the Invocation of the

hosts of Buddhas and Badhisattvas, and the offering to them of real thought the four Infinite moods of friendliness, compassion sympathy, and Impartiohty. Then he must meditate upon the emptiness (*Shunyata*) or non existence of all things, for "by the fire of the idea of the abyss, it is said, there are destroyed beyond recovery the five factors" of ego-consciousness then only should he invoke the desired divinity by the utterance of the appropriate seedword (bija) and should Identify himself completely with the divinity to be represented. Then finally on pronouncing the *dhyana mantram*, in which the attributes are defined, the divinity appears visibly, "Like a reflection" or "as in a dream" and this brilliant is the artist's model—Hindu View of Art" : Historical in *The Dance of Shiva*, P. 44

5. चित्रगतायमस्यां कान्तिविसंवादशंकि में हृदयम् । सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥ *मालविकाग्निमित्रम्* 2/2
6. “कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानभवीविशत्” *भट्टतौत*
7. ध्यान योगस्य संसिद्धयै प्रतिमा लक्षणम् स्मृतम् । प्रतिमा कारको मर्त्यो यथा ध्यानरतो भवेत् । *शुक्रनीतिसार* 4/4/71
8. “शक्तो मूकोऽपि यत्कर्तुम् कलासंज्ञसु तत्स्मृतम्”, *शुक्रनीतिसार*
9. *प्रश्नोपनिषद्* 6/2-3-4
10. *तुलनात्मक काव्यशास्त्र*
11. *मालविकाग्निमित्रम्* 2/8
12. यथाचित्रपटे दृष्टम् अवस्थानाम् चतुष्टयम् ।  
परमात्मन् विज्ञेयं तथावस्था चतुष्टयम् ॥  
यथाधौतोः घटितश्च लाञ्छितो रञ्जितःपटः ।  
चिदंतर या सूत्रात्मा विराच्चात्मा तथैर्यते ॥ “चित्रदीप प्रकरण,” *पंचदशी*, 1-2
13. *तंत्रालोक*

## संदर्भ ग्रंथ सूची

- अभिनवगुप्त, *ध्वन्यालोकलोचन*, व्या. जगन्नाथ पाठक, वाराणसी, चौखंबा सुरभारती, प्रकाशन, 1998
- अभिनवगुप्त, *तंत्रसार* (नीर क्षीर विवेकी-हिंदी व्याख्या सहित) व्या. परमहंस मिश्र, वाराणसी, चौखंबा सुरभारती प्रकाशन, 1996
- अभिनवगुप्त, *तंत्रालोक* (विवेकटीका) प्रथम व द्वितीय भाग, भा.व.सं. परमहंस मिश्र हंस, वाराणसी, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, 2000

अभिनवगुप्त, *हिंदी अभिनव भारती*, सं. नगेंद्र, व्या., आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1973

उपाध्याय, भगवतशरण, *भारतीय कला का इतिहास*, नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1981

चतुर्वेदी, सीताराम, *कालिदास ग्रंथावली*, लखनऊ, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, 1997

देशपांडे, गणेशत्रयम्बक, *भारतीय साहित्यशास्त्र*, दिल्ली, राजपाल एंड संस, 1958

राजानक कुंतक, *वक्रोक्ति जीवितम्*, व्या. आचार्य विश्वेश्वर, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1995

*ललितविस्तर सूत्र* सं. प.ल. वैद्य, दरभंगा, 1960

वात्स्यायन, *कामसूत्र*, (जयमंगला टीका सहित), अनु. डॉ. रामानंद शर्मा, वाराणसी, चौखंबा संस्कृत सिरीज ।

## नागार्जुन एवं उमाशंकर जोशी के दृष्टिकोण

मोहम्मद अजहर ढेरीवाला\*

नागार्जुन न केवल हिंदी साहित्य के बल्कि समग्र दलित-दमित एवं पीड़ित जनता के पक्षधर बनकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं। जिस समय इन्होंने साहित्य में कदम रखे उस समय समाजवादी यथार्थवाद की ओर साहित्यकारों का आग्रह प्रबल होता जा रहा था। खुद नागार्जुन ने अभावों को झेला था इसलिए इनके यहाँ समाजवाद एक यथार्थ के रूप में उभरकर हमारे सामने आता है। इस संदर्भ में डॉ. त्रिभुवन सिंह का कहना है कि “समाजवादी यथार्थवाद सामाजिक विषमताओं के मूल कारण की पहचान कर उन्हें नष्ट करने का प्रतिक्रियात्मक हल प्रस्तुत करता है। इसके अंदर ऐसे समाजों का चित्र उपस्थित किया जाता है जो उपेक्षित निम्न श्रेणी के हों तथा जीवन-यापन के लिए प्रस्तुत अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष कर रहे हों।”<sup>1</sup> वस्तुतः समाजवादी यथार्थवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है। उपेक्षित जन-समुदाय की मूक वाणी को स्वर देना तथा शोषण, उत्पीड़न और दलित समाज का अंकन करना, इसका उद्देश्य है। परंतु “यह कहना नितांत भ्रांतिमूलक है कि अन्याय शोषण को जो व्यक्त करे, जिसमें मजदूरों की पुकार हो, किसानों का क्रंदन हो, जो वर्गवाद का गला टीप दे तथा पूँजीवाद की पूँछ में पलीता लगा दे।”<sup>2</sup> वही प्रगतिवादी साहित्य है। ऐसा साहित्य प्रगतिवादी साहित्य नहीं है, वर्गवादी साहित्य है। वस्तुतः समाजवादी यथार्थवादी साहित्य उसे ही कहा जा सकता है जो समाज के किसी खास वर्ग को ही नहीं, वरन् संपूर्ण समाज को प्रेरित करे तथा उसे साथ लेकर चलते हुए उन्नति के सामान्य धरातल पर ला खड़ा करे। “समाजवादी यथार्थवाद जीवन की समस्त वास्तविकताओं का अंकन करते हुए मनुष्य की आगे बढ़ने की आकांक्षाओं और संभावनाओं को व्यक्त करता है। विश्व के महान कवि और कलाकार मनुष्य के इन्हीं स्वप्नों को अपनी कला में मूर्त करते हैं।”<sup>3</sup> इस प्रकार जीवन की समस्याओं के अत्यंत

\* डॉ. मोहम्मद अजहर ढेरीवाला, पी.2, अध्यापक कुटीर, बी/एच.रोजरी हाईस्कूल, प्रतापगंज, वड़ोदरा-390002 (गुजरात); मो. 09427322878

निकट उसके समाधान के लिए आतुर दिखाई पड़ने वाली यह विचारधारा है। इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि “वह समाज के मूल में सक्रिय क्रांतिकारी शक्तियों को पहचान कर और उनके द्वारा बढ़ते हुए आंदोलन का उल्लेख करके पूँजीवाद के नाश और निम्नवर्ग की विजय में पूरी आस्था व्यक्त करे जिसमें निराशा तथा जीवन के दाँव हारे हुए निम्न स्तर के लोगों में आशा का संचार हो और वे अपने को इस योग्य बना सकें कि समाज की विषम परिस्थितियों से वीरता के साथ संघर्ष कर सकें।”<sup>4</sup> इस संदर्भ में नागार्जुन ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि “अब इस युग में आकर इतना तो स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि मार्क्सवादी विचारधारा त्रिपथगा नदी की कौन-सी प्रखर शाखा कहाँ तक बहुजन का कल्याण करेगी यह तो आगे अभी देखना है, इस त्रिपथगा यानी तीन दिशाओं में बहने वाली नदी की किसी एक धारा के अंदर शोषक समाज का सर्वाधिक रक्त मिला होगा। भारत का मौजूदा शासकवर्ग उस शोषक समाज की सुरक्षा के लिए अभी और कितने पैतरे बदलेगा, यह सब इन जन-कवि की अंतर्दृष्टि से न पहले ओझल था न अब ओझल है।” प्रेमचंद जी ने अपने ओजस्वी भाषण में साहित्य को जीवन-धर्म बताया। उन्होंने कहा कि “हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता नहीं जिससे नैराश्य छा जाए। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, जो सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।”<sup>5</sup> नागार्जुन इन सभी साहित्यिक कसौटियों पर खरे उतरने वाले साहित्यकार थे, उनकी रचनाओं में इन्हीं समाजवादी यथार्थवाद के दर्शन हम कर सकते हैं।

जिस समय नागार्जुन एवं गुजराती के प्रसिद्ध कवि उमाशंकर जोशी ने लिखना आरंभ किया था, वह समय गाँधीयुगीन एवं स्वतंत्रता संग्राम का था। इनके काव्यों में प्रारंभ से ही इस विचारधारा को हम देख सकते हैं। नागार्जुन एक ओर सामाजिक यथार्थ के प्रतिबद्ध कवि के रूप में उभरकर सामने आते हैं और उनमें जो खुला व्यंग्य है, सत्ताधारी और शासक पक्ष के विरुद्ध जो आक्रोश है, वहीं दूसरी ओर उमाशंकर जोशी में गाँधी विचारधारा का प्रबल पक्ष दिखाई देता है। कवि उमाशंकर जोशी की प्रगतिवादी कविताओं में जो स्थिति का वर्णन है उसमें आक्रोश अपने सहज एवं सरल स्वभाव के रूप में प्रस्तुत हुआ है और नागार्जुन उसका वर्णन सामाजिक यथार्थ के रूप में खुल कर करते हैं। शोषितों की असहनीय पीड़ाओं को देख, उसकी तीव्र प्रतिक्रिया उत्तरदायी परिस्थितियों के विरुद्ध व्यंग्य-मिश्रित आक्रोश का रूप लेकर नागार्जुन के काव्य में उभरी है। नेताओं को जनहित की स्पष्ट अवहेलना करता एवं मात्र अपनी स्वार्थसिद्धि में संलग्न होता देख कवि ने इसे ‘राम राज्य में रावण का गंगा नाच’ निरूपित किया है। वह आक्रोश से भर पुकार उठा है :



राम राज्य में अबकी रावण नंगा होकर नाचा है  
सूरत शकल वही है, बिलकुल बदला केवल ढाँचा है  
नेताओं की नीयत बदली, फिर तो अपने ही हाथों,  
भारत-माता के गालों पर कसकर पड़ा तमाचा है।<sup>6</sup>

इधर मुंबई में गुजराती प्रगतिशील आंदोलन उमाशंकर जोशी ने आरंभ कर दिया था। विज्ञान और उद्योग जगत के साथ-साथ मानव जीवन की बेबसी का भी चित्रण होने लगा था। एक तरफ बेकारी, गरीबी थी तो दूसरी तरफ विज्ञान की वह सुख-सुविधाएँ और दूसरे विश्व युद्ध का नर-संहार ऐसी घटनाएँ थीं जिसने कवि को मानवजाति के लिए सोचने पर विवश कर दिया। आज का मनुष्य यंत्रवत् बनता जा रहा है और साथ ही साथ उसका मानवता का चेहरा ढँक चुका है। इसी संवेदना को कवि उमाशंकर जोशी प्रकट करते हुए कहते हैं कि...

मंत्र तो 'मनुष्य'-मानव नुं होवुं, मानव नुं जिववुं

कवि को शोषण, द्वेष, धिक्कार एवं युद्ध से सख्त नफरत है, इसी का आक्रोश उपर्युक्त पंक्तियों में हुआ है। मनुष्य का जीवन किस प्रकार व्यतीत हो रहा है इस पर कवि का कहना है कि "किचूड़-खट-चूँ-खट" (अभिसा से) ऐसी आवाज आ रही है। उन्होंने अपने काव्य में मेहनतकश आदमी को केंद्र-बिंदु बनाया है 'अन्नब्रह्म' की महिमा का वर्णन करते हुए उन्होंने उसकी तात्विक-वास्तविक एवं तार्किक भूमिका प्रस्तुत की है, वह उल्लेखनीय है। संस्कृति के विकास में मानव की प्रगति में मजदूरों और मेहनतकश इंसानों ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उनके 'अन्नब्रह्म' काव्य की पंक्तियाँ देखिए

अन्ने किधो करवंतो पशु, नेकीध मानवी  
करे किधो बुद्धिवंतो, बुद्धीऐ संस्कृतिवतो  
संस्कृतिओ किधो देव, चतुष्पद हतो जजे  
प्रगति अनभूली आ अन्नमूला बुधो लहे। (निशीथ से)

वहीं पर नागार्जुन मजदूरों और किसानों की स्थिति का वास्तविक अंकन करते हुए कहते हैं...

बीज नहीं है, बैल नहीं है, बरखा बिन अकुलाते हैं  
नहर रेट बढ़ गया खेत में पानी नहीं पटाते हैं  
नहीं खेत से कनका भर भी दाना उपजा पाते हैं  
पिछला कर्ज चुका न सके, साहू की झिड़की खाते हैं।<sup>8</sup>

(प्रेत का बयान से)

इन स्थितियों को देख कर कवि इस निष्कर्ष पर पहुँच गया है कि जब तक देश में जमींदारी प्रथा और व्यापारी वर्ग मौजूद है तब तक इन किसानों को न्याय नहीं मिल

सकता, क्योंकि इन किसानों को नेतृत्व करनेवाले स्वयं अपने आदर्शों से फिसल रहे हैं। इस पर कवि करारा व्यंग्य करता हुआ कहता है...

जमींदार हैं साहूकार हैं, बनिया हैं व्यापारी हैं  
अंदर-अंदर विकट कसाई बाहर खदरधारी हैं,  
सब घुस आए भरा पड़ा है भारतमाता का मंदिर  
एक बार जो फिसले अगुआ फिसल रहे हैं फिर फिर फिर।<sup>9</sup>

यह जो सामाजिक असमानता फैली है उसका सीधा आरोप कवि कांग्रेसियों पर लगता हुआ डंके की चोट पर कहता है...

खादी ने मलमल से अपनी साँठ-गाँठ कर डाली है,  
बिड़ला-टाटा-डालमिया की तीसों दिन दिवाली है।<sup>10</sup>

नेताओं की इसी अवसरवादिता के कारण देश बेहाल है। भूख, महामारी और अकाल आज अपना तांडव नृत्य कर रहे हैं

मँडराती है यम की नानी खेतों में खलिहानों में  
भूख, अकाल, महामारी की फसल उगी मैदानों में  
लूट-पाट की होड़ मच गई नरभक्षी हैवानों में  
लटक रहा ताला गल्ले की सरकारी दूकानों में।<sup>11</sup> (प्रेत का बयान से)

फिर देखिए...

सौ का खाना एक खा रहा आती नहीं डकार।<sup>12</sup> (प्रेत का बयान से)

आजादी के इतने वर्ष बीत जाने पर भी देश की जनता, मजदूर और किसानों की जो स्थिति है उस पर भारतमाता अपना दुःख किस प्रकार व्यक्त कर रही है, कवि कहता है...

जीभ कटी है भारतमाता मचा न पाती शोर  
देखो धँसी-धँसी ये आँखें, पिचके-पिचके गाल  
कौन कहेगा आजादी के बीते तेरह साल।

लाख-लाख श्रमिकों की गर्दन कौन रहा है रेत  
छीन चुका है कौन करोड़ों खेतियों के खेत  
किसके बल पर कूद रहे हैं सत्ताधारी प्रेत।<sup>13</sup>

(प्यासी पथराई आँखें से)

कुली मजदूर हैं

बोझा ढोते हैं, खींचते हैं टेला

धूल-धुआँ भाप से पड़ता है साबका

थके-माँदे जहाँ-तहाँ हो जाते हैं ढेर। (प्यासी पथराई आँखें से)<sup>14</sup>

इन सभी स्थितियों को चुनौती देता हुआ कवि आक्रोश भरे स्वर में कहता है कि यदि अन्न-चोरी बढ़ती जाएगी तो भूखे मरनेवाले लोगों की क्रांति विश्व को हिला देगी। इतना ही नहीं शासन की बंदूक भी वहाँ फेल हो जाएगी...

कूच करेंगे भक्कड़ थराएगी दुनिया सारी  
काम न आएँगे रत्ती भर विधि निषेध सरकारी  
बंदूकों पर हावी सैनिकों की लाचारी  
सरेआम कीड़े खाएँगे बेदम अत्याचारी।

हमारे देश में लाखों-करोड़ों टन अनाज की पैदावार होती है, किंतु फिर भी उसका सही बँटवारा नहीं होता। 121 करोड़ से अधिक आबादी वाले देश में आज भी 35 से 40 प्रतिशत जनता अन्नाभाव में जी रही है। लाखों टन गोदामों में सड़ता अनाज जानवरों और चूहों के खाने के लिए है, सड़ने और गलने के लिए है, किंतु भूख से पीड़ित जनता के लिए नहीं है, उसी अन्नाभाव का विद्रोह जब क्रांति का रूप ले लेगा तो फिर शासकों की क्या स्थिति होने वाली है इसका चित्रण नागार्जुन उपर्युक्त पंक्तियों में कर चुके हैं। आज विश्व पर अपनी दृष्टि करें तो पता चलेगा की सीरिया, बेहरिन, लीबीया आदि देशों में इसी भूख से तड़पती जनता ने सत्ता के खिलाफ अपनी आवाज को बुलंद किया है और साथ ही साथ इन अत्याचारी सत्ता की नींव को हिलाकर रख दिया है। उस स्थिति का वर्णन उमाशंकर जोशी अपने काव्य में इस प्रकार कर रहे हैं...

उगारशे की नहिं अन्न द्वेषी ने  
बचावशे संस्कृति अन्नद्रोह ना!<sup>15</sup> (निशीथ से)  
कां भूख ने भोजन रहे विखूटां?  
कां बेय स्हेजे ज मणि शके ना!<sup>16</sup> (बेन्क पासे नुं झाड़, निशीथ से)  
रामजी! का रोटला मोंघा?  
लोही मांस आटला सोघां?<sup>17</sup> (पहेरण नुं गीत; गंगोत्री से)

और यदि शासकों ने फिर भी जनता की ओर अपना ध्यान नहीं दिया तब फिर क्या दयनीय स्थिति होनेवाली है इसका वर्णन कवि उमाशंकर जोशी ने अपने काव्य 'जठराग्नि' में बड़े ही आक्रोश के साथ किया है। इसमें कवि मानो पूँजीपतियों को चुनौती दे रहा है और काव्य में "रचो-रचो," "चणो चणो", जैसे शब्द का पुनरुच्चारण करता हुआ कवि धनकुबेरों को ललकार रहा है और कह रहा है कि मंदिरों और महलों को बनवाइए और अपनी सुख-सुविधाएँ और मौज-शौक के साधन बनवाकर गरीबों और दरिद्रों का मजाक कीजिए, किंतु जब इनके पेट में भूख रूपी आग जागेगी (जठराग्नि) तो फिर वह समय दूर नहीं कि आपके द्वारा बनाए गए महल और

सुख-सुविधाओं के साधन भस्मीभूत हो जाए। इसी आक्रोश को प्रगट करता हुआ कवि उमाशंकर जोशी का कवि हृदय कहता है कि...

रचो, रचो अंबरचुंबी मंदिरों  
ऊँचा चणो महेल, चणो मिनारा।  
मठो स्फटिके, लटकावो झुम्मरो  
रंगे उड़ावो जणना फुवारा।

रचो, रचो चंदनवाटिकाओं  
ऊडां तणावो नवरंग घुम्मटो  
ने कैकं क्रीडांगण, चंद्रशाणा  
रचो भले।

× × ×

अंतर-रुंधती शिला  
ऐ केम भावि बहु काण सांखशे?  
दरिद्र नी ऐ उपहासलीला  
संकलवा, कोटिक जीभ फेलतो  
भूख्यां जनो नो जठराग्नि जागशे;  
खंडेरनी भस्मकणी न लाधशे!<sup>18</sup> (गंगोत्री से)

कवि उमाशंकर जोशी ने 'सोनाथाणी' काव्य में किसानों की श्रम की महिमा का वर्णन किया है, वहीं 'दणणा ना दाणा' में वृद्ध की बेहाली का करुण चित्र उपस्थित किया है। कवि ने वर्गीय विषमता को दर्शाने के लिए 'धोबी' जैसे काव्य की रचना की, इसमें कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि धोबी जब कपड़े धोता है उस समय पानी की बूँदें उड़ती हैं, उस पानी की बूँदों में उसे इंद्रधनुष के रंग दिखाई देते हैं। कवि इस इंद्रधनुषी रंगों के आनंद का अनुभव करने के लिए जुलाहे से कह रहा है। विज्ञानी लोग जुलाहे से सूरज की तरफ पीठ मोड़कर कपड़े सफाई करने के लिए कह रहे हैं, इस समय जुलाहा जो कहता है उसमें उसकी बेबसी का चित्र उपस्थित हो जाता है...

माँ, बाप! अेवा करुं जो हुं चाणा,  
धरे बिचारां मरी जाय छोकरा!<sup>19</sup> (धोबी; गंगोत्री से)  
जो! बापडो न्यूटन व्यर्थ जीव्यो,  
थै शोध के ना, सरखुं ज आने।  
हसे कवि, ना ऊर आनुं नाचे,  
जीव्युं अरे फोगट वर्डजवर्थ नुं!<sup>20</sup> (गंगोत्री से)

कवि के इस हास्य के पीछे बौद्धिकता की छटा दिखाई देती है, दरिद्रों और गरीबों के लिए हमदर्दी नहीं। इसमें अमीरों और गरीबों के बीच असमानता का भाव दिखाई देता है। इसी दर्द को 'शिशुबोल' कविता में हम देख सकते हैं...

भणीगणी बंगला मां रहेवानुं शु भैयाजी ने नहीं थतुं हशे मनः<sup>21</sup>

(शिशुबोल : आतिथ्य से)

वहीं पर कवि 'पांचाली' काव्य में कंगालियत के एक हृदय-द्रावक दृश्य से विचलित हो कह उठता है...

सहस्र ऐ वस्त्र स्वरक्त मूलव्यां

दिल तमारे थकी खेंची खेंची

दुःशासनो शासी रह्यां तमोने

पांचालीओ। क्यां लग सांखशो हजीः<sup>22</sup>

(पांचाली : निशीथ से)

इसी स्थिति का वर्णन नागार्जुन करते हुए कहते हैं कि

देश हमारा भूखा-नंगा घायल है बेकारी से

मिले न रोटी-रोजी भटके दर-दर बने भिखारी से

स्वाभिमान सन्मान कहाँ है, होली है इंसान की।

बदला सत्य अहिंसा बदली लाठी, गोली, डंडे हैं

कानूनों की सड़ी लाश पर प्रजातंत्र के झंडे हैं।

निश्चय राज्य बदलना होगा शासक नेताशाही का

पद लोलुपता दलबंदी का, भ्रष्टाचार तबाही का।<sup>23</sup>

वहीं रोते-बिलखते हुए दीन-दुखियों को अपनी सांत्वना देने की बात कवि उमाशंकर जोशी 'भोमिया विना' काव्य में कर रहे हैं। इस काव्य के माध्यम से कवि की अपनी वेदना भी प्रकट हो जाती है और वे कह उठते हैं

भोमिया विना मारे भमवा' ता डुंगरा

जंगल नी कुंज-कुंज जोवी हती;

जोवी' ती कोतरो ने भेवी' जी कंदरा,

रोता झारणांनी आँख ल्होवी हती।<sup>24</sup>

इधर नागार्जुन के काव्य में युवावर्ग, मजदूर और शोषित वर्ग के प्रति ही नहीं, बल्कि तुतलाते बच्चों के प्रति भी कवि आशावान दिखाई देता है। अमेरिका द्वारा वियतनाम की शांति-प्रिय जनता के शोषण और अत्याचारों को मिटाने की आशा कवि इन नवयुग के शिशु दूतों से ही करता है। साम्राज्यवादी दैत्यों का संहार भी इन बच्चों से होगा, ऐसा कवि का विश्वास है। शिशुओं के द्वारा "मेले नाम तेले नाम वियतनाम वियतनाम" के स्वर ही वे अंकुर हैं जिनमें शोषण-विरोधी आँधी का प्रसार करने की भावी संभावनाएँ निहित हैं। यह बाल-सेना संप्रदायवाद का भूत भी भगाएगी।

निर्भय होकर शोषण की बुनियादें यह खोदेंगे

फिरकाबंदी जातिवाद का झाड़ेंगे यह भूत

निविड़ विषमता को मिटाएँगे नवयुग के शिशु दूत।<sup>25</sup>

इसमें कवि का आशावादी स्वर उभरकर सामने आया है।

'दणणा ना दाना' कवि उमाशंकर जोशी का अपने पूर्व काव्य 'जठराग्नि' जैसा मार्क्सवादी काव्य है। इस काव्य में भी कवि ने शोषितों की बात तो की है, किंतु इनमें आक्रोश नहीं के बराबर दिखाई देता है। साधनहीन लोगों का शोषण हर व्यक्ति करता है, इस काव्य में भी एक वृद्धा जो साधनहीन है उस समाज का प्रतिनिधित्व कर रही है। वृद्धा की कोठी खाली है, उस दशा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है...

खरा बपोरे चढये दाणा रे काढवा

ऊर्डी कोठी मां डोशी पेठां रे लोल

कोठी मां पेठां न बूंधे जई बेठां

भूंसी-लूछीने दाणा काढ्या रे लोल

साठ-साठ वर्ष लगी कोठी रे ठालवी

पेट नी कोथी ना भराणी रे लोल

सूंडली भरीने डोशी आव्यां आगणिये,

दणणा ना दाणा सूकव्या रे लोल।

सूकवी ने डोशी चूला मां पेठां

थापसे मांड एक ढेबरुं रे लोल।

और इस काव्य की अंतिम पंक्तियों में कवि ने जो एक मार्मिक दृश्य उपस्थित किया है उसका एक चित्र देखिए

चूला कने ताकी रही' ती मीनीबाई

रोटलो लईने चप चाली रे लोल

नज़रे पड़ी ने झपी टीपूडो कूदियो

डोशीनी नेकरी फणी रे लोल

छेल्लुय ढेबरुं ताणीग्यो कूतरो

दयणुं पाशेर मांड बाकी रे लोल

अरे पाशेरकण पंखीडां काजे

मारी पछाडे नखावजे रे लोल

कोठी भांगीने ऐना चूला ने मांडजो

करजो वेची ने घर, कायटुं रे लोल।<sup>26</sup>

उसी रूप से कवि ने 'वासणी वेचनारो' काव्य में उस कलाकार की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है, जो अपनी इस कला के माध्यम से अपना जीवन-निर्वाह

चला रहा है। ऐसे दरिद्रों के लिए विडंबना यह है कि कला की कद्र न करनेवाले, कला की कीमत मापने की कोशिश करते हैं; फिर भी कलाकार अपनी कला में लीन दिखाई देता है...

मीठी जबाने ललचावी हैयां  
रसे पूरा किंतु खीसे अधूरा  
श्रीमणि कोने अमथुं रिबाब तो  
बराडतो जोस थी बंसीवाणो

अने खभे वांसणी जूथ ऐनुं  
थयुं न स्हेजे हणवुं, भय्यो छता।<sup>27</sup>

इस ओर नागार्जुन की कविता 'प्रेत का बयान' में प्राइमरी स्कूल के एक शिक्षक की प्रेत के रूप में तस्वीर खींची गई है। इस देश के तंत्र पर व्यंग्य करता हुआ कवि कह रहा है :

महाराज!  
सच-सच कहूंगा  
झूठ नहीं बोलूंगा  
नागरिक हैं हम स्वाधीन भारत के...  
पूर्णिया जिला है, सूबा बिहार के सिवान पर  
थाना घमदाहा, बस्ती रूपउली  
जाति का कायथ  
उमर है लगभग पचपन साल की  
पेशा से प्राइमरी स्कूल का मास्टर था  
तनखा थी तीस, सो भी नहीं मिली  
मुश्किल से काटे हैं  
एक नहीं, दो नहीं, नौ-नौ महीने।  
घरनी थी, माँ थी, बच्चे थे चार  
आ चुके हैं वे भी दयासागर करुणा के अवतार  
आपकी छाया में।  
मैं ही था बाकी  
क्योंकि करमी की पत्तियाँ अभी कुछ शेष थीं  
हमारे अपने पुश्तैनी पोखर में...

और परिस्थिति की विडंबना तो यहाँ तक पहुँच जाती है कि खुद नरकेश्वर भी यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि उसकी आत्मा किसी प्रकार निकली होगी

सुनकर दहाड़  
स्वाधीन भारतीय प्राइमरी स्कूल के  
भुखमरे स्वाभिमानी सुशिक्षित प्रेत की,  
रह गए निरुत्तर  
महामहिम नरकेश्वर!!<sup>28</sup>

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अमेरिका ने 1945 में जापान के हीरोशिमा शहर पर पहला परमाणुबम गिराया था, जिसमें लाखों लोग मारे गए थे। इस घटना के कुछ समय बाद नागासाकी शहर पर भी परमाणु बम गिराया गया था, इसमें भी लाखों लोगों की जानें गईं। इस घटना से पूरा विश्व काँप उठा था, इसी का चित्र उपस्थित करना कवि का उद्देश्य रहा है, किंतु उमाशंकर जोशी के इस वर्णन में उन दुःखी मानवों के चित्रण करने का इतना प्रयास नहीं है जितना कि कवि की दृष्टि बचे हुए पुल, किसान और पाठशाला में जाती हुई बालिकाओं का चित्र उपस्थित करने में रही है :

खेडुना जोडानी फाट मांथी, चाले छे ऐ त्यारे  
डोकियां करे छे ऐनां आंगणां...अने अत्यारे  
निशाण नो समय थयो छे तेथी पणे पेलेली  
कन्या त्वराभरी चाली जाय, अगाड़ी नमेली  
हाथ मां झालेली पाठ्यपोथीओना भार थकी  
केवो पुल!  
केवो वा हवे खेडुत!  
केवुं के कौमारफूल!  
तें तो बधुं मृत्युमुखे होमी दीधुं हतुं छकी  
शक्तिछाके; आजे हवे शाने पछी ऐज सर्व  
भाणवा करे? ते सौय तारो तोडवाने गर्व  
जे विज्ञाननी सहाय थी तें तेनो कर्यो नाश  
तेनी ज को गूढ प्रक्रिया थकी, थतां प्रकाश  
अथवा ते सदाभीरू आँख तारी झंख्यां करे  
नाशितोने? तनेयेते अंतरात्मा डंरव्यां करे।  
तो तो कांड भविष्यमां तारे काज आशा हजी।<sup>29</sup>

कवि नागार्जुन ने भी परमाणु बम बनानेवाले राष्ट्रों के हिंसक वृत्ति पर प्रहार करते हुए कहा था कि ये बम युद्धभूमि में नहीं, बल्कि मानव आबादी पर गिराए जाएँगे...और उनकी यह संभावना सही निकली। अमेरिका के द्वारा सन् 1945 में हीरोशिमा और नागासाकी शहर पर जो परमाणु बम गिराए गए और लोगों का खून बहा उस पर कवि प्रहार करता हुआ कहता है :

युद्धाकांक्षी मानवाभास पागल पिशाच दस बीस पचास  
जिनके गलित कुष्ठ के मारे घुटा जा रहा मानवता का श्वास।<sup>30</sup>

कवि का विचार है कि युद्ध करना, मानवता का संहार करना तो सरल बात है, पैटन टैंक तोड़ने से ही कुछ नहीं हो जाता, समस्या सामने आए ज्वलंत प्रश्न की है और वह है : आसमान छूती हुई महँगाई से गरीब जनों को छुटकारा दिलाना। इसीलिए कवि कहता है :

पैटन टैंक उन्होंने तोड़े  
महँगाई के टैंक कौन तोड़ेगा?  
डटे हुए हैं वे भौगोलिक सीमाओं पर  
आर्थिक हित के छोरों की निगरानी कौन करेगा?

स्वतंत्रता मिलने के बाद देश की जो दुर्दशा हुई है, उस पर कवि अपने काव्य 'जीर्ण जगत' में वर्णन करता हुआ कहता है कि स्वतंत्र भारत में देश की नेतागिरी जिस दिशा में पहुँची है, उसने जनता का जीना मुश्किल कर दिया है। इसी नेतागिरी को देखकर कवि उमाशंकर जोशी अपने काव्य में 'मुर्दा नी वास' अर्थात् मुर्दे की दुर्गंध जैसी वीभत्स कल्पना का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि ऐसे मुर्दों की दुर्गंध कहीं-कहीं तक पहुँच रही है। वे अपनी पुरानी जबान से नवनिर्माण की बातें करते हैं। ऐसी भेड़िया-वृत्ति से यह देश कैसे चल पाएगा? इसीलिए कवि विनाश के देव शिव से इस जीर्ण-जगत पर टूट पड़ने को कहते हैं :

मने मुर्दानी वास आवे!  
सभामां समितिमां, घणां पंचमां, ज्यां  
नवा निर्माण नी वातो करे जुनवाणी जड़बां,  
ऐक हा-नी पूठे ज्यां चली वाणजारमां हा,  
मणे क्यांक ज अरे मर्दानगीनी ना,  
परंतु ऐहने धुत्कारथी थथराववा करतां  
विचरता मंद नित्ये,  
श्वास लेतां अर्धसत्ये ने असत्ये,  
जरठ हो क्यांक-क्यांक जुवान खासां,  
निहाणी भाविने खातां बगासां,  
दड़ भरडो मडानो सत्य ने गूगणाववां करतां  
मने निशदिन बुझायेलां दिलोनी वास आवे!<sup>31</sup>

वहीं पर नागार्जुन ने देशव्यापी भ्रष्टाचार को रावण मानकर उस पर करारा व्यंग्य करते हुए कहा है :

राम राज में अबकी रावण नंगा होकर नाचा है  
सूरत शकल वही है भैय्या बदला केवल ढाँचा है  
नेताओं की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथों  
भारतमाता के गालों पर कसकर पड़ा तमाचा है।<sup>32</sup>

इस प्रकार अवसरवादी नेताओं पर कवि ने जमकर व्यंग्य किया है। 'चना चोर गरम' कविता में कवि अवसरवादी नेताओं पर व्यंग्य करता हुआ कहता है :

चना है बना मसालेदार  
खाइए भी तो यह सरकार  
मिलेगा परमिट बारंबार  
मिलेंगे सौदे सभी उधार  
नया हो जाएगा घर-बार  
कि लद-लद कर आवेगी कार।<sup>33</sup>

तीन रंग का घाघरा, ब्लाउज गाँधी छाप  
एक बंदरिया उछल रही देखो अपने आप।

30.10.68 को नागार्जुन ने एक व्यंग्य रचना लिखी। इस कविता में देश में हो रहे अहित के कारण व्यक्ति पर व्यंग्य किया गया है। एक बंदरिया को उपस्थित कर देश की राजनीति में उसकी बदगुमानी स्पष्ट की गई है। बंदरिया की पहचान पाठकों पर ही छोड़ दी है।

छतरी वाला जाल छोड़कर  
अरे, हवाई डाल छोड़कर  
एक बंदरिया कूदी धम से  
बोली तुसमे बोली हमसे  
बचपन में ही बापूजी का प्यार मिला था  
सात समंदर पार पिता के धनी दोस्त थे  
देखो मुझको यही नौ लखा हार मिला था  
पिता मरे तो हमदर्दी का तार मिला था  
आज बनी मैं किष्कन्धा की रानी  
सारे बंदर सारे भालू भरा करें अब पानी।

ऐसी विकट परिस्थितियों में भी कवि का आशावादी स्वर विश्व भर में शांति की स्थापना करना चाहता है और अपने काव्य 'हीरोशिमा' के अंत में वह मान्यता का विजय उल्लास मानता हुआ कहता है :

भले अमानुषितानी मनुष्ये बतावी सीमा,  
नागासाकी...हीरोशिमा...

अंते तो मनुष्य सामे अमानुषिता ज थाकी  
हीरोशिमा... नागासाकी...<sup>34</sup>

कवि उमाशंकर जोशी में गाँधीवादी विचारधारा का स्वर अधिक दिखाई देता है, इसके विपरीत वे जब मार्क्सवादी काव्य की रचना करते हैं उस समय वे केवल उसका वर्णन मात्र कर जाते हैं; उस चित्रण में गहराई नहीं दिखाई देती है। वहीं गाँधीवादी विचारधारा इनके काव्यों में प्रबल रूप से उभरकर सामने आती हैं और अपने काव्य 'विश्वशांति' में वह 'शांति' को बहुत ही व्यापक अर्थ में देखते हैं। वह जानवर, परिंदे और फूल, पेड़ों की रक्षा की चिंता करते हुए दिखाई देते हैं :

हसाव्यां भूत ने भावि, हसावो वर्तमान ने।  
पढावो प्रेमना मंत्रो घेली मानवजात ने।  
विशाणे जगविस्तारे नथी ऐक ज मानवीः  
पशु छे, पंछी छे, पुष्पो, वनोनी छे वनस्पति।<sup>35</sup>

कवि जिस समय अपने विश्वशांति के व्यापक अर्थ की तलाश कर रहा है, उस समय वह पर्यावरण के बचाव की बात कर रहा था। कवि का हृदय भूत से वर्तमान की ओर भी देखता है और भविष्य की ओर भी। आज विश्व के सामने सबसे बड़ा प्रश्न 'Global Warming' का है और चिंता का विषय भी बनकर खड़ा हुआ है। वह पूरे विश्व को 'वसुधैव कुटुंबकम्!' की नजरों से देखता है, इसीलिए वह अपने काव्य 'विश्वशांति' के अंत में यह संदेश दे जाता है :

सौ जीव आजे ऊर थी वहवीऐ  
कारुणय नी मंगल प्रेमधारा  
वसुंधरनां सहु बाण को मणी  
बजावीऐ अंतर ऐकतारा  
हैयेहैयां प्रेमगाने जगावी  
प्रजा प्रजा हाथ मां हाथ गुंथी,  
ने स्कंधे स्कंध सपे मिलावी,  
गजावीऐ सौ जगऊंबरे ऊभीः  
“मानवी प्रकृति, सौने वसुधैव कुटुंबकम्”  
ने ऐ जशे शब्द अनंत वींधी  
ज्यां घूमती कोटिक सूर्यमाला,  
जयां शांति ना रास चगे रसाणा,  
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।<sup>36</sup> (विश्वशांति से)

कवि नागार्जुन भी शांति के चाहक हैं, किंतु वह श्मशानी शांति नहीं चाहते, वह तो सगुण शांति के आराधक हैं। 'हंस' पत्रिका के शांति अंक में नागार्जुन की 'जयति

जयति सर्वमंगला' शीर्षक से एक लंबी कविता प्रकाशित हुई थी। उसमें वह इसी सगुण शांति की अपेक्षा रखते हुए कहते हैं :

माँग रही तरुणाई वो हथियार  
द्विपद भेड़िए को दहलाए जिसकी पैनी धार  
जिसकी छाया में जनलक्ष्मी करे अशक विहार  
जिसके बल पर सगुण शांति के सपने हों साकार  
शून्य सात्वना देने वाली शांति तुम्हारी तुम्हें मुबारक  
यह ढकोसला यह आध्यात्मिक शांति तुम्हें मुबारक।

इसे कवि मरघटी शांति मानता है। उसे तो सगुण शांति चाहिए, इसलिए कवि कहता है :

नहीं श्मशानी शांति चाहिए  
नहीं वैश्वी शांति चाहिए  
नहीं भैरवी शांति चाहिए  
नहीं निर्गुणी शांति चाहिए  
हम इच्छुक हैं सगुण शांति के।

जिस प्रकार नागार्जुन ने सामाजिक विषमता के दर्शन धर्मस्थानों में किए हैं उसी प्रकार उमाशंकर जोशी ने भी इसकी ओर अपनी कलम चलाई है। 'सोनाथाणी' काव्य में यह दर्शाने की कोशिश की गई है कि स्थापित हितों का धर्मस्थानों में किस प्रकार वर्चस्व होता है। देवों के मंदिर 'देवों के कैदखाने' जैसे हैं। जिस प्रकार देव मंदिरों की दुर्दशा है उसी प्रकार देश में रहने वाली जनता की स्थिति है। उसी प्रकार नागार्जुन ने अपने एक बहुचर्चित उपन्यास 'इमरतिया' में धर्म की आड़ में चल रहे पाखंडों की पोल को खोला है, किंतु उमाशंकर जोशी में जिस प्रकार का व्यंग्य है उसमें उतनी तीव्रता नहीं है, क्योंकि उमाशंकर मूल रूप से आनंद की स्थापना करते हैं, व्यंग्य वह प्रसंगानुसार ही कर सकते हैं। 'गन्या ने भूख न भागे' यह वह खूब अच्छी तरह जानते हैं। 'वचन से समाजवादी' के सामने भी उनके मन का मेल नहीं खाता। आज जो समाज अपाहिज और नेत्रहीन है वह यही शोषणमूलक समाज की रचना है, इसलिए वे व्यंग्य करते हुए कहते हैं :

अककवंता खभे अन्यने केवा जुओ विराजे।  
पंगु चडे गिरी पर! जय प्रभु नो कणियुगेय शो गाजे<sup>37</sup>  
(लूला आंधणा नी नवी वात; निशीथ)

उमाशंकर जोशी ने सामाजिक विषमता का वर्णन बड़ी ही भावनात्मकता के साथ किया है। बालक और भैयाजी की बातचीत में...“रामजी! कां रोटला मोंघा?

लोहीमास आटला सोंघां?” जैसी पंक्तियों में और बंशी बेचने वाले की उस मोद भरी मस्ती में विषमता के रूप देखने को मिलते हैं। उसी प्रकार ‘विश्वशांति’ काव्य में मनुष्य की पीड़ा और विषमता भरी दयनीय स्थिति का वर्णन है। ‘बुलबुल अने भिखामण’ के संवाद में सामाजिक विषमता के दर्शन हम करते हैं। उसी प्रकार ‘मोची’ काव्य में भी हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण को देख सकते हैं। कवि उमाशंकर की कविताओं से गुजरते हुए यह बात मूल रूप से स्पष्ट हो जाती है कि कवि का मूल स्वभाव व्यंग्य करना नहीं है। उन्होंने विशेष-विशेष अवसरों पर इसका प्रयोग किया है। उनकी मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रभावित कविताओं में भी हमें यही देखने को मिलता है। मूलतः गाँधीवादी कवि अपनी कल्पना में विश्वशांति की तलाश कर रहा है, इसीलिए वह कहता है:

*विशाणे जग विस्तारे नथी एकज मानवी  
पशु छे, पंखी छे, पुष्पो, वनोनी छे वनस्पति।<sup>38</sup>*

‘विश्वशांति’ की रचना के बाद कवि को फिर से जेल की हवा खानी पड़ी थी, उसमें भी वह विश्वशांति की तलाश करता हुआ अपने काव्य ‘विश्वमानवी’ में व्यक्ति से मिटकर विश्वमानव बनना चाहता है और कह उठता है...

*व्यक्ति मटी ने बनुं विश्वमानवी  
माथे धरुं धूण वसुंधरानी<sup>39</sup>*

## संदर्भ

1. हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ. त्रिभुवन सिंह, पृ. 31
2. कृष्णदेव प्रसाद गौड़ : सरस्वती पत्रिका, जुलाई, 1942
3. आज का हिन्दी साहित्य : यथार्थवाद : प्रो. प्रकाशचंद्र गुप्त, पृ. 19
4. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ. त्रिभुवन सिंह, पृ. 33
5. साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचंद, पृ. 10, 11, 19
6. हंस, जून, 1948, (राम राज कविता), पृ. 493, पद. क्र. 7
7. अन्नब्रह्म कविता (समग्र कविता : उमाशंकर जोशी, पृ. 222)
8. प्रेत का बयान : नागार्जुन (संकल्प आज दुहराते हैं, पृ. 10)
9. हंस, जून, 1949, अंक-1, पृ. 640
10. हंस, मई, 1949, अंक-8, पृ. 492
11. प्रेत का बयान : नागार्जुन पृ. 5
12. वही, पृ. 9
13. प्यासी पथराई आँखें (कविता), जनशक्ति पत्रिका, (स्वतंत्रता दिवस विशेषांक), 14 अगस्त, 1960

14. प्यासी पथराई आँखें, नागार्जुन पृ. 9
15. अन्न ब्रह्म (कविता) (समग्र कविता : उमाशंकर जोशी), पृ. 224
16. बेंक पासे नुं झाड़ (कविता) वही, पृ. 193
17. पहेरण नुं गीत (कविता) वही पृ. 42
18. जठराग्नि (कविता) वही, पृ. 45
19. धोबी (कविता) वही, पृ. 91
20. वही, पृ. 91
21. शिशुबोल (कविता) वही, पृ. 350
22. पांचाली (कविता) वही, पृ. 187
23. जनयुग, 4 जनवरी, 1968
24. भोमिया विना (कविता) उमाशंकर ना श्रेष्ठ काव्यो संपादक, निरंजन भगत, चिमनलाल त्रिवेदी, भोणाभाई पटेल,
25. जनयुग, 6 सितंबर, 1970
26. दणणा ना दाणा (कविता) उमाशंकर ना श्रेष्ठ काव्यो सं. निरंजन भगत, चिमनलाल त्रिवेदी, भोलाभाई पटेल, पृ. 16-17
27. वांसाणी वेचनारो (कविता), वही, पृ. 48
28. प्रेत का बयान : नागार्जुन, प्रतिनिधि कविता संकलन: जीवनी और मूल्यांकन, संपादक : प्रभाकर माचवे, सुरेश सलिल : पृ. 93-94
29. हीरोशिमा (कविता) उमाशंकर ना श्रेष्ठ काव्यो सं. निरंजन भगत, चिमनलाल त्रिवेदी, भोणाभाई पटेल, पृ. 88-89
30. एटमबम : नागार्जुन (प्रतिनिधि कविता संकलन-जीवनी और मूल्यांकन पृ. 95)
31. जीर्ण जगत (कविता), उमाशंकर ना श्रेष्ठ काव्यो सं. निरंजन भगत, चिमनलाल त्रिवेदी, भोणाभाई पटेल : पृ. 91
32. हंस, जून, 1948, (राम राज कविता: नागार्जुन) पृ. 493, पद क्र.7
33. चना जोर गरम (कविता) नागार्जुन, प्रतिनिधि कविता संकलन-जीवनी और मूल्यांकन, पृ. 97
34. हीरोशिमा (कविता) उमाशंकर नां श्रेष्ठ काव्यो सं. निरंजन भगत, चिमनलाल त्रिवेदी, भोलाभाई पटेल, पृ. 90
35. विश्वशांति (कविता), वही, पृ. 5-6
36. विश्वशांति (कविता), वही, पृ. 6
37. लूला आंधणा नी नवी वात (कविता), समग्र, कविता: उमाशंकर जोशी, पृ. 189
38. विश्वशांति (कविता) उमाशंकर ना श्रेष्ठ काव्यो सं. निरंजन भगत, चिमनलाल त्रिवेदी, भोलाभाई पटेल, पृ. 6
39. विश्वमानवी (कविता) वही, पृ. 11

## निर्गुण गीत

### ॐसत्य प्रिय पाण्डेय\*

निर्गुण गीत मूलतः वे गीत हैं जिनमें जीवात्मा-परमात्मा सम्बन्धी बातें प्रतीकात्मक रूप में कही गई हैं। निर्गुण गीत 'निर्गुण' नाम से आम जनमानस में आज भी प्रसिद्ध है। ये निर्गुण गीत निर्गुण संत सम्प्रदाय की भावना पर ही आधारित हैं किन्तु संतों की अटपटी बानियों की तरह ये गूढ़ एवं अस्पष्ट नहीं हैं, वरन् भाव-प्रवण एवं सहज संप्रेष्य हैं। कई गीतों की आखिरी पंक्तियों में कबीरदास का नाम आता है किन्तु ये गीत कबीरदास द्वारा रचित हैं, ऐसा निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। ये बाद में क्षेपक के रूप में जोड़ दिए गए हों, इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। बहरहाल, ये कबीर के हैं अथवा नहीं हैं, इससे इनके महत्त्व, इनकी लोकप्रियता पर कोई खास फर्क नहीं पड़ता क्योंकि इन गीतों की व्याप्ति आम जनता में काफी लम्बे समय से है। ये गीत ज्यादातर भोजपुरी क्षेत्रों में गाए जाते हैं, इसका कारण शायद यही होगा कि कबीर आदि निर्गुण संत काशी और उसके आस-पास ज्यादा रहे। उनकी बानियों का प्रभाव उस क्षेत्र के जनमानस पर अपेक्षाकृत अधिक रहा होगा, लिहाजा निर्गुण गीतों की एक सुदीर्घ परम्परा भोजपुरी में मौजूद है। वहाँ आज भी ये गीत खासे लोकप्रिय हैं, मसलन हम भोजपुरी का ही एक गीत देखें जिसमें किसी व्यक्ति के मरने का जिक्र हो रहा है :

*कौनो ठगवा नगरिया लुटलेसि हो।*

इस गीत में किसी की जिन्दगी उजड़ने की बात कही गई है। इस तरह के बहुत सारे गीत भोजपुरी में गाए जाते हैं। इन गीतों में न केवल मृत्यु का भय मौजूद है, वरन् जीवन रहते सदाचार पालन पर जोर दिया गया है, तप और शुद्धता की महिमा गाई गई है। इन गीतों में मृत्यु के दृश्य को प्रायः लड़की के विवाह, उसकी विदाई आदि प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। जैसे

\* सत्यप्रिय पाण्डेय, सहायक व्याख्याता (हिन्दी), श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, मोबाइल8750483224, पता : 151ए, ढका गाँव के नजदीक, किंगजैकेम्प, दिल्ली110009

*सिखलू न एकर सउरवा  
भला कइसे जइबू गवनवाँ हो।*

*भेजि देइहें पिया के भवनवाँ  
भला कइसे जइबू गवनवाँ हो॥*

किसी के मरने के बाद लोग रोते हैं, मृतक शरीर के लिए कफन लाया जाता है, शव को बाँधा जाता है और चार आदमी कंधे पर उठाकर ले जाते हैं, इस समूचे दृश्य को लड़की की विदाई के दृश्य के माध्यम से व्यक्त किया गया है। यह गीत जिसे हम बताने जा रहे हैं, यह कबीर दास का ही माना जाता है :

*आई गवनवाँ की सारी, उमिरि अबहीं मोरि बारी।  
साज समाज पिया लै आये, और कहरिया चारी।  
बम्हना बेदरदी अचरा पकरि कै, जोरत गाँठिया हमारी।  
सखी सब गावत गारी। आई गवनवाँ की सारी।  
बिधि गति बाम कछु समझ परत ना, बैरी भई महतारी।  
रोय रोय अंखिया मोर पोंछत, घरवा से देत निकारी।*

*कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह पद लेहु विचारी।  
अब के गवनां बहुरि नहि अवनां, करिले भेंट अकबारी॥*

यहाँ समूचा दृश्य मृत्यु और उसके बाद की समूची घटना को व्याख्यायित कर रहा है और बता रहा है कि सब कुछ कैसे छूट जाता है, जो खास अपने थे पराए हो जाते हैं, कोई साथ नहीं जाता, बल्कि जल्दी से निकाल बाहर कर देते हैं और ले जाकर नदी के किनारे जला दिया जाता है। पूरे वातावरण में शोक का समुद्र उमड़ पड़ता है, जैसे किसी ने आग लगा दी हो और सब कुछ नष्ट हो गया हो, कुछ वैसा ही दृश्य मृत्यु के बाद उपस्थित होता है। इसी दृश्य को अवधी में लिखा एक निर्गुण गीत अपने तरीके से दिखा रहा है :

*उजारि दिहीं हो टोला चलीं गवने का,  
टोला उजारि दिहीं२  
चारि कहार मोर जन्मेन कै साथी  
पूछै न पाछै उठाई लेहिं हो डोला चलीं गवने का।  
उजारि दिहीं हो टोला चलीं गवने का॥*

ये सारे गीत संसार की असारता एवं अनासक्ति के भाव को न केवल उत्पन्न करते हैं, वरन् हमें निर्वेद की स्थिति में पहुँचा देते हैं। कुछ क्षण के लिए ही सही, हम



यह सोचने विचारने के लिए विवश हो उठते हैं कि जीवन वास्तव में क्षण-भंगुर है, नाशवान है और हमारा चरम और परम लक्ष्य क्या होना चाहिए और हम भटक गए हैं इस सांसारिक माया मोह के बंधन में। आदि-आदि भाव इन गीतों को सुनने से उत्पन्न होते हैं। ये गीत हमें संसार की वास्तविकता से रूबरू कराते हैं, बहुत संभव है कि पहले ये गीत किसी के मरने के बाद उत्पन्न शोक को शांत करने के लिए मृतक के परिवार वालों को गाकर सुनाए जाते रहे हों। आज भी किसी-किसी के घर मृत्यु के पश्चात् गरुड़-पुराण की कथा सुनी जाती है। उसमें भी स्वर्ग और नरक के तमाम किस्से मौजूद हैं, जो निर्वेद उत्पन्न करने वाले ही हैं और मृतात्मा के अभाव से उत्पन्न क्षोभ से हमें विश्रान्ति प्रदान करते हैं। ये गीत यही कार्य ठेठ और सामान्य भाषा में करते हैं और इनकी व्याप्ति भी कम नहीं है। संतकाव्य में भी जीव को स्त्री और ब्रह्म को पुरुष के रूप में वर्णित किया गया है। कबीर आदि संतों ने जीवात्मा को स्त्री रूप में तथा परमात्मा को पुरुष रूप में ही व्याख्यायित किया है। इन गीतों में भी यही प्रतीक दिखाई पड़ता है। भँवरा, हंस, काम ये सब कोई-न-कोई प्रतीकात्मक अर्थ संतकाव्य में रखते हैं। एक गीत इसी तरह का है जिसमें भँवरा प्राण का प्रतीक कहा गया है।

जैसे

भँवरवा, के तोहरा संग जाई,  
पेट पकरि के माता रोवै, बाँह पकरि के भाई,  
सेज पकरि के तिरिया रोवै, हंस अकेला जाई,  
भँवरवा, के तोहरा संग जाई॥

कबीर के पदों में भँवरा काले केश का प्रतीक है, वे एक पद में कहते हैं :

रैन गई मत दिनु भी जाई।  
भवर उड़े बरा बैठे आई॥

यानी कि काले बाल अब सफेद हो चले हैं, हे जीवात्मा तू अब भी समय रहते भगवान का भजन कर ले क्योंकि काल का कुछ पता नहीं है। कुछ निर्गुण गीत ऐसे भी हैं जिनमें यह भाव भी मिलता है कि जो कर्म में लिखा है, उसे कोई टाल नहीं सकता है। कर्म का फल भोगना निश्चित है, कर्म का प्रभाव देवी-देवता तक को नहीं छोड़ता, उन्हें भी भोगना पड़ता हैकबीर का एक गीत इसी प्रारब्ध की जटिलता को बताता है :

करम गति टारे नाहिं टरी।  
मुनि बसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी

सीता हरण मरन दशरथ को, बन में विपत्ति परी॥

कहै कबीर सुनो भाई साधो, होनी होके रही॥

इन गीतों की विशेषता इसी रूप में है कि ये गीत जीवन की सबसे कड़वी सच्चाई को बड़े ही बेलाग रूप में स्पष्ट करते हैं, मसलन मृत्यु को ही लें तो; मृत्यु ऐसा आतंकित करने वाला बोध है कि जिस पर कोई आदमी बात करने से भी कतराता है। ये गीत इस डरावने विषय को भी इतनी सहजता से हमारे सामने रखते हैं कि हम देखते हैं कि हमारा डर धीरे-धीरे तिरोहित होने लगता है। ये गीत भावना से इतने ओत-प्रोत हैं कि इन्हें कोई भी व्यक्ति मनोयोग से सुनता है, समझता है। ये गीत आज भी गाँवों की चौपालों से गाए जाते सुने जा सकते हैं। ये निर्गुण गीत अपनी अर्थवत्ता आज भी रखते हैं और भविष्य में भी रखते रहेंगे।

## प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंको में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ

**चाँद नहीं रोटी**, अंजना वर्मा; प्रकाशक: अभिधा प्रकाशन, रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर-842002, प्रथम संस्करण : 2011; पृष्ठ : 128; मूल्य: 150 रुपये।

**यादें उन देशों की** (यात्रा-संस्करण), अंजना वर्मा; प्रकाशक: अभिधा प्रकाशन, रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर-842002, प्रथम संस्करण : 2010; पृष्ठ: 122; मूल्य: 195 रुपये।

**दोहों की आँखें**, अंजना वर्मा प्रकाशक: अभिधा प्रकाशन, रामदयालु नगर, मुजफ्फरपुर-842002, प्रथम संस्करण: 2011; पृष्ठ : 48; मूल्य: 45 रुपये।

## पत्रिका

**मनस्वी**, साहित्यिक व पारिवारिक हिन्दी पत्रिका; वर्ष: 13 अंक : 61 अक्टूबर-नवम्बर 2011; प्रकाशक एवं संपादक : मुरली मोहन, मुद्रक व प्रकाशक : स्वत्वाधिकारी मुरली मोहन द्वारा मॉक्स प्रिन्टर, प्रेस कॉम्प्लेक्स, एम-8, कृष्णदीप कॉम्प्लेक्स, महारानी रोड, इन्दौर; पृष्ठ : 64; मूल्य : 15 रुपये।

## मोहनजोदड़ो के बहाने\*

कृपाशंकर सिंह\*\*

ओम थानवी की पुस्तक 'मुअनजोदड़ो' का आरंभ यात्रा-वर्णन से होता है। लेकिन बाद में पता चलता है कि लेखक की यह यात्रा किसी साधारण यात्रा की तरह नहीं है, बल्कि पाँच हजार साल पूर्व की अपनी जड़ों की ओर लौटना भी है। मुअनजोदड़ो की यात्रा उन्हीं जड़ों को अपनी आँखों से देखने की उत्कट अभिलाषा को दर्शाती है।

पुस्तक का आरंभ में ही इस बात का संकेत मिलते हैं कि पाकिस्तान में कानून व्यवस्था की स्थिति कितनी लचर है। वहाँ यात्रा करना कितना जोखिम भरा है। यात्री टैक्सी भी नहीं ले सकता, क्योंकि रास्ते में डाकुओं का खतरा है। लेखक के पास पाकिस्तान के पर्यटन स्थलों की जो मार्गदर्शिका है, उसमें चेतावनी है 'कराची के बाहर किसी हथियारबंद गार्ड के बगैर न निकलें। आखिर में लेखक यह तय करता है कि बस की यात्रा ही ठीक रहेगी। कराची से लाड़काणा रात भर की यात्राबस आरामदेह होगी। लेकिन बस को सामने देखकर बस के आरामदेह होने का मुगालता काफूर हो जाता है। 'भीतर हाल और बुरा था। अजीब-सी गंध। फटी सीटें।' लेखक में आत्मसंशय जगता है 'मैं जा क्यों रहा हूँ, खंडहरों के बीच? रखा क्या है, अतीत की इस भटकन में? उतर जाएँ। फिर देखा जाएगा। लगा कि दिल डूब रहा है।' पर फिर हिम्मत हुई, 'अपनी जड़ों की पड़ताल' अपनी सभ्यता के सबसे बड़े तीर्थ की... यह तीर्थ यात्रा है।<sup>1</sup> इस जज्बे ने आत्मसंशय को दूर भगाया।

इसके आगे कई पृष्ठों तक बस के सफर और सहयात्री नासिरखान से पाकिस्तान के कुछ पहलुओं पर बातचीत का विवरण है। कराची में आजादी के बाद हिंदू-मुस्लिम दंगे तो नहीं हुए पर जातीय दंगे बहुत हुए। कारण एक तो यह कि भारी संख्या में मुहाजिरों के आने से जातीय समीकरण में बदलाव आया। दूसरा कारण

\* मुअनजोदड़ो, ले. ओम थानवी, वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2

\*\* कृपाशंकर सिंह, डी-6, स्ट्राबरी हिल, शिमला-171002; मो. 09805476883

यह कि अंग्रेजी राजभाषा और उर्दू राष्ट्रभाषा हो गई पर सिंधी का वजूद ही खतरे में दिखाई देने लगा। "नौकरियों में उर्दू बोलने वालों को तरजीह दी जाने लगी। सिंधी अपने ही सिंध में हाशिये पर चले गए।" "आखिर सिंधी दो हजार साल पुरानी जवान है, उर्दू यहाँ कल आई है।"

मुअनजोदड़ो के 'असल सफर' के पहले का जो सफर है, वह भी कम रोचक नहीं है। उसमें रोचकता के साथ कई मसलों का भी जिक्र है सिंधी-उर्दू मसले, मुहाजिरों के मसले, मुहाजिरों की वजह से सिंध की आबादी में आया उलटफेर और उसके परिणामस्वरूप 'जिए सिंध' और 'मुत्ताहिदा कौमी मूवमेंट' दोनों का एक दूसरे के बरअक्स खड़ा होने वाले आंदोलन जैसी अनेक बातें लेखक और नासिरखान की बातचीत के बीच में सामने आ जाती हैं।

ओम थानवी ने यह सही कहा है कि "पुरातत्त्व को प्राचीन इतिहास का रोशनदान कहा जाता है। यह रोशनी प्रामाणिक साक्ष्यों पर आधारित होती है।" असल में पुरातत्त्व के उत्खननों से प्राप्त साक्ष्य ऐसे ठोस प्रमाण हैं, वे ऐसी जीती जागती तसवीरें होती हैं कि उसमें आप अपने विगत वैभव और विरसे को अपने सम्मुख साक्षात् देखते और पाते हैं। यह भी महसूस करते हैं कि कोई दूसरा आप के विगत अतीत को झुठला नहीं सकता।

ओम थानवी ने सिंधु सभ्यता के हास के लिए विद्वानों द्वारा व्यक्त किए गए कई तरह के कयास का उल्लेख किया है। जैसे सिंधु सभ्यता किसी भूकंप या नदी में आई बाढ़ के कारण तबाह हो गई हो। इस संभावना को लेखक ने यह कहकर खारिज कर दिया है कि सिंधु की बाढ़ से एक साथ ही एक दूसरे से दूर-दूर बसे सिंध, पंजाब, गुजरात, कैसे तबाह हो सकते हैं? यह एक नामुमकिन-सी बात लगती है। भूमि का अत्यधिक दोहन और जंगल की कटाई का कारण भी बेतुका लगता है, क्योंकि आबादी का घनत्व उतना नहीं था कि भूमि का दोहन अपने चरम पर पहुँच जाए। वैसे आज तक पंजाब और उत्तर प्रदेश में आबादी के इतने अधिक घनत्व के बाद भी भूमि की उर्वरा शक्ति में कमी नहीं आई है। दूसरे अनुमान भी बौद्धिक कसरत के अलावा कोई ठोस और तर्कसंगत कारण सामने नहीं रखते। जो ताजा भूगर्भ-अध्ययन है, जिसमें भूमि के उठान से सिंधु के प्रवाह के धीमा पड़ जाने की बात कही गई है, या समुद्र के जलस्तर के ऊँचा उठने की बात है, उसे भी उस सभ्यता के नष्ट होने से जोड़ा नहीं जा सकता।

वैसे अकसर हड़प्पा सभ्यता के अवसान की बात कही जाती है। पर अगर लाक्षणिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि हड़प्पा सभ्यता नष्ट कहाँ हुई, उस सभ्यता की तमाम विशेषताएँ तो आज भी अपनी निरंतरता के साथ हमारे समाज की नसों में प्रवाहित हैं। मुअनजोदड़ो की नर्तकी (?) की बाँह का चूड़ा आज भी राजस्थान, गुजरात के क्षेत्रों में स्त्रियाँ पहनती हैं, कालीबंगा में जो जोता हुआ खेत

मिला है, उसकी हराई पूरब-पश्चिम और उत्तर-दक्खिन की उसी तरह की है, जैसे आज पूरब-पश्चिम की सघन हराई में चना और उत्तर-दक्खिन की विरल हराई में सरसों बोई जाती है। नौशेरो से प्राप्त स्त्री की माँग की लाल निशान वही है जो बहुत से इलाकों में विवाहिता की पहचान सिंदूर है। स्त्रियों के सिर पर पहना जाने वाला जो चौक मिला है, वह आजकल भी पंजाब-हरियाणा के देहाती इलाकों में सिर पर सजने वाला आभूषण है। कालीबंगा से प्राप्त योनि के साथ लिंग और शिव-पशुपति के रूपाकार की जो कल्पना है, उस कल्पना को साकार करती मुअनजोदड़ो से प्राप्त योगासन की मुद्रा में चौकी पर बैठी पुरुष आकृति है, मुअनजोदड़ो का स्वस्तिक। हड़प्पा से प्राप्त दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन की मुद्रा, जो आज भी अभिवादन का भारतीय चिह्न है। योगासन की मुद्राएँ आदि। इस तरह के बहुत से चिह्न और अवशेष हैं जो उसी काल से बदस्तूर चलते चले आ रहे हैं। मुझे लगता है कि चूँकि खुदाई बहुत कम हो पाई है, इसलिए निरंतरता को सिद्ध करने वाले बहुत सारे प्रमाण अभी धरती के गर्भ में ही छिपे रह गए हैं।

ओम थानवी ने स्वयं कहा है कि “दो तिहाई मुअनजोदड़ो अभी जमींदोज है। और उसके साथ आदि इतिहास के रहस्यों की दर्जनों परतों के साथ दो बड़ी गुलियाँ भी दफन है।”

फिर भी जितना कुछ मिला है, उसके आधार पर कह सकते हैं कि हड़प्पा सभ्यता से कटकर हम आगे नहीं बढ़े हैं, उसे समेटकर अपने साथ लेकर आगे बढ़े हैं, उसकी विरासत की बहुत सारी पहचान हमारे साथ है।

मुअनजोदड़ो में प्रवेश के साथ ही लेखक का ध्यान उसकी लिपि की ओर गया है। उसका मानना है कि “उसे कोई आजतक भेद नहीं सका है। सात देशों के सौ से ज्यादा विशेषज्ञों की मेहनत के बावजूद।”

जहाँ तक मैं भाषा और लिपि के सह-संबंध को थोड़ा-बहुत जानता हूँ, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि यह लिपि कभी भी पढ़ी नहीं जा सकेगी। कारण यह है कि लिपि भाषा-ध्वनियों के स्थानापन्न के रूप में प्रतीकात्मक चिह्नों का समूहन होती है। और जिस तरह ध्वनियों के संयोजन से बने भाषा-शब्द में जो एक आर्थी-मूल्य निहित रहता है, वही आर्थी-मूल्य उन ध्वनियों के स्थानापन्न लिपि चिह्नों में रचनांतरित होता है। तात्पर्य यह कि लिपि के शब्द भाषा-शब्द के ही प्रतीकात्मक रूप हैं। और इन सबके साथ जो बात सबसे अधिक ध्यान देने की है, वह यह कि यह सब कुछ ऐच्छिक है। यह भी कि भाषा-शब्द (यहाँ लिपि-चिह्न कह लीजिए) और उसमें निहित अर्थ एक ही आवयविक इकाई हैं। किसी भाषा के बोलने वालों के अलावा अन्य कोई जो उससे अनजान रहा है, वह शब्द और उसमें निहित प्रतीकात्मक मूल्य (अर्थ के सह-संबंध को स्थापित नहीं कर पाता। क्योंकि जैसा अभी कहा गया यह ऐच्छिक होता है, और उस भाषा के बोलने और लिखने वालों के अलावा अन्य के लिए ग्राह्य

नहीं होता। इसलिए कितनी भी बौद्धिक कसरत की जाए, हड़प्पा सभ्यता की लिपि (अगर वह लिपि है तो) को पढ़ा नहीं जा सकेगा।

पुस्तक के पृष्ठ 12 पर लेखक ने दो बातें कही हैं एक कि “क्या साहित्य को इतिहास निर्धारण का निर्णायक आधार माना जा सकता है? दूसरी यह कि सिंधु यानी हड़प्पा सभ्यता की गुलियों को ऋग्वेद की ऋचाओं से खोलने की कोशिश ऐसा ही उद्यम है।” इसी जगह ऋग्वेद को ‘धार्मिक साहित्य’ बताने का संकेत भी है।

जहाँ तक पहली बात का प्रश्न है, तो इतिहास क्या इतिहास के पूर्व के ऋग्वेद को भी जानने-पहचानने का एक मात्र साधन पुरातत्त्व ही नहीं है, भाषा-साहित्य भी एक महत्वपूर्ण साधन है। भाषा के माध्यम से ही यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धांत गढ़ा कि आर्य बाहर से आए थे। वरना सिंधु/हड़प्पा सभ्यता से संबंधित जितनी खुदाइयाँ हुई हैं, उनसे आर्यों के कहीं और से आने का कोई संकेत नहीं मिलता। यह भाषा थी जिससे विलियम जोन्स ने एक सिद्धांत का प्रपंच रचा। 1786 ई. में ‘रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल’ के तृतीय वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर भाषण देते हुए विलियम जोन्स ने यह कहा कि संस्कृत का लैटिन और ग्रीक से अत्यधिक साम्य है। यह साम्य आकस्मिक नहीं है। इन भाषाओं का मूल स्रोत कोई एक होना चाहिए, जिसका आज अस्तित्व नहीं है। इन तीनों भाषाओं की जननी भाषा को ‘आद्य भारोपीय भाषा’ बताया गया है। विलियम जोन्स ने आगे कहा कि संस्कृत की संरचना आश्चर्यजनक रूप से पूर्ण है, वह ग्रीक से अधिक संपन्न और लैटिन से अधिक ज्ञान बहुल और शिष्ट है। मैक्समूलर और लगभग सभी यूरोपीय विद्वान ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम साहित्य मानते हैं संस्कृत को ग्रीक, लैटिन से प्राचीनतर मानने से सहज निष्कर्ष यह निकलता है कि संस्कृत के बाद उन भाषाओं का विकास हुआ। इससे दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि विश्व की प्राचीनतम रचना ऋग्वेद है, और प्राचीनतम भाषा संस्कृत है तो मूलभाषा का जन्म स्थान भी संस्कृत की धरती को ही होना चाहिए। और यदि यह कल्पना की जा सकती है कि आर्य यूरेशिया के किसी स्थान से भारत में आ चुके, तो यह कल्पना क्यों असंभव हो गई कि भारत से चलकर वे पश्चिम या पश्चिमोत्तर की ओर भी जा सकते? यूरोपीय विद्वानों (और उनके पिछलग्गू वामपंथी इतिहासकारों) की टीम जब तथाकथित आद्य भारोपीय भाषा के उद्गम स्थान को ढूँढ रही थी तो उनकी निगाह उन छोटे-छोटे भाषिक समूहों पर बार-बार टिकती दिखाई देती है, लेकिन एक अत्यंत विस्तृत भूमिभाग पर संपर्क भाषा का काम करने वाली और ऋग्वेद जैसी रचना को प्रस्तुत करने वाली संस्कृत भाषा पर फिसल जाती है। यह विद्वत्ता का कैसा उपहासास्पद दुरुपयोग है।

आर्य आक्रमणकारी थे, इस पर तार्किकता का मुलम्मा चढ़ाने के लिए मार्टिन्ट हीलर ने एक सिद्धांत गढ़ा। यह सिद्धांत भी साहित्य से ही सूझा था। इंद्र ऋग्वेद के महानतम देवता हैं, उन्हें सर्वाधिक शक्तिशाली भी कहा गया है। वे आर्यों के

महानायक के रूप में हैं। एक ऋचा में इंद्र के लिए 'पुरांदर्तः शब्द आया है, (पुरांगरों के, दर्त :तोड़ने वाले) इंद्र पुरों के भंजक हैं। इसके आधार पर हिलर ने आर्यों के आक्रमण का सिद्धांत गढ़ा। बाहर से आक्रमणकारी के रूप में आने वाले आर्यों ने हड़प्पा सभ्यता के लोगों का संहार किया और इस तरह हड़प्पा सभ्यता का अवसान हुआ। इस संहार को तार्किक, बनाने के लिए मार्टिन्ट ने : मुअनजोदड़ो से प्राप्त नर-कंकालों का सहारा लिया। बाद में अनेक पुरातत्त्वविदोंजार्ज. एफ. डेल्ल, बी.बी.लाल आदि ने इस पूरी परिकल्पना को निराधार और बे सिर-पैर की बताते हुए यह कहा कि यदि ये नर-कंकाल संहार की वजह से होते तो इन्हें मुअनजोदड़ो के स्तरों में सबसे ऊपरी स्तर पर मिलना चाहिए था, जिससे उस सभ्यता का अवसान सिद्ध होता। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। ये नर-कंकाल उत्खनन के दौरान विभिन्न स्थानों में मिले हैं। डेल्ल ने इसे 'मिथक संहार' कहा।

ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक कीविशील्ड के नेतृत्व में वैज्ञानिकों के एक दल ने जीन के आनुवंशिकी अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीयों का जो जीन पूल है, वह पश्चिमी यूरेशियाई लोगों के जीन पूल से नितांत भिन्न है। पश्चिमी यूरेशियाई लोगों में जो विशेष माइटोकांड्रियल डी एन ए मिलता है, वह सत्तर प्रतिशत यूरोपीय लोगों में तो है, पर केवल 5.2 प्रतिशत भारतीयों में है। यदि वहाँ के लोग भारत आए होते तो माइटोकांड्रियल डी एन ए का यह प्रतिशत भारतीयों में भी उनके समान होता। निष्कर्ष यह कि वैज्ञानिक दृष्टि से देखे या परिस्थितिगत दृष्टि से सिद्ध यही होता है कि बाहर से कोई नहीं आया, और न कोई आक्रमण हुआ।

ओम थानवी ने यह लिखा है कि "इतिहास लेखन साहित्य जैसा रचनाधर्मी काम नहीं है। इतिहास में कल्पना और आग्रहों के समायोजन की गुंजाइश ही नहीं है। उसे प्रमाण चाहिए।"

ओम थानवी की बात सिद्धांत के रूप में तो सच है, ऐसा होना चाहिए, पर व्यवहार में ऐसा होता नहीं है। इतिहास हो या पुरातत्त्व उसमें कल्पना और आग्रहों का सहारा बखूबी लिया जाता है। अभी मैंने जो उदाहरण दिए हैं, वे दोनों पूरी तरह मनगढ़ंत और खास आग्रह से प्रेरित रहे हैं। दोनों भाषा और साहित्य से ही गढ़े गए, और उन्हें कल्पना और आग्रहों में लपेटकर प्रस्तुत किया गया। इतिहास में भी ऐसा ही होता है। इतिहासकार अपनी मान्यता के पूर्वग्रह के अनुसार ही लिखता है। आजादी की लड़ाई के इतिहास को देखने से यह साफ हो जाएगा। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अठारह सौ सत्तावन के स्वातंत्र्य संघर्ष को अभी भी गदर का नाम देते हैं।

ओम थानवी धीरे से कोई शब्द रख देते हैं, ऐसे कि जैसे कहते हों कि ठहरो, इस पर कुछ कहो फिर आगे बढ़ो। ऐसा ही कुछ उन्होंने ऋग्वेद को 'धार्मिक साहित्य' कहकर ठिठकने के लिए विवश कर दिया। लगता है जानबूझ कर उन्होंने ऐसा कहा होगा। क्योंकि अधिकतर लोग ऋग्वेद को धार्मिक ग्रंथ के रूप में ही महिमामंडित

करके पुण्य लाभ प्राप्त करते हैं। उनसे मेरा अनुरोध है कि ऋग्वेद को कृपया धार्मिक ग्रंथ कहकर और अपनी ओर से उसे महिमामंडित करके उधर से आँख न मूँदिए।

ऋग्वेद वास्तव में मानवीय जिजीविषा का आलेख है। आनंदमय जीवन जीने की कला उसमें निहित है। उसका फलक बहुत व्यापक है। वह अपने समय के समाज का हर तरह से आईना है। उसमें एक सुगठित परिवार व्यवस्था है, जिसका मुखिया पिता और पति है, एक सुगठित समाज व्यवस्था जिसका मुखिया ग्रामणी, ग्रामों को जोड़कर गठा उसका मुखिया गणपति, व्यवस्था के उच्चतम स्तर पर सभा या समिति जिसका मुखिया विश्वपति या राजा है। विश्वपति की भी तीन कोटियाँ हैंसम्राट, राजा और राजक। विश्वपति सभा-समिति के प्रति उत्तरदायी है। ऋग्वेद में व्यक्ति मन की उलझने हैं, उलझनों को लेकर संवाद हैं; (लोपामुद्रा अगस्त्य), प्रेम निवेदन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। जड़ पदार्थ को भी जीवंत अस्तित्व के रूप में जानने-पहचानने की वैज्ञानिक बुद्धि है। सूर्योदय के पूर्व के आकाशउषा को लेकर तथा सूर्य और सविता तथा अन्यान्य प्राकृतिक दृश्यों को लेकर मन को मोह लेने वाले प्राकृतिक चित्रण हैं। पृथ्वी चपटी नहीं गोल है और अपनी धुरी पर टिकी हैइसका उल्लेख पृथ्वी और आकाश के बीच, अंतरिक्ष है, अंतरिक्ष तक ही बादलों की सीमा है। विद्युत बादलों में है, शरीर में है और जल में भी है। पृथ्वी और जीव जगत के अस्तित्व में आने को लेकर जिज्ञासाएँ हैं। दर्शन के वे सूत्र हैं, जिनसे बाद की दार्शनिक व्याख्याएँ और उनकी शाखाएँ विकसित हुईं।

'मुअनजोदड़ो' पुस्तक में लेखक ने दो स्थानों पर यह लिखा है कि "इतिहास के ब्योरों में मुअनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे विराट नगरों का सहसा लोप हो जाता है। नई वैदिक संस्कृति आ जाती है। हड़प्पा सभ्यता की कुछ परंपरा उसके बीच उभरी रहती है।"

एक और जगह लिखा गया है कि "सिंधुघाटी के उजड़ने और वैदिक संस्कृति के स्थापित होने में कितना फासला है।"

अपनी इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए लेखक ने इसकी व्याख्या नहीं की है। उन्होंने उन तर्कों को भी नहीं दिया है, जिनके आधार पर वे ऐसा मान रहे हैं। सच्चाई यह है कि कोई भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि वैदिक संस्कृति हड़प्पा सभ्यता से पहले की है या बाद की। सब कुछ अतीत के गर्भ में छिपा है। हाँ इतना जरूर है कि भाषा के प्रमाण के तौर पर ऋग्वेद की भाषा प्राचीनतम है। हड़प्पा सभ्यता का कोई भाषिक प्रमाण तो उपलब्ध है नहीं। एक चीज और भी तय है कि ऋग्वेद की दो ऋचाओं (10.75.5,6) में नदियों का जो उल्लेख मिलता है, वह इस बात का तो निश्चित प्रमाण है कि ऋग्वेदिक भारत और मुअनजोदड़ो/हड़प्पा कालीन भारत, इन दोनों के क्षेत्र लगभग समान थे। ऋग्वेद में इन नदियों के नाम पूर्व से पश्चिम के

क्रम में दिए गए हैं, वे ये हैं गंगा, यमुना, सरस्वती, सतलुज, रावी, रसा, क्रमु, गोमती, कुभा (काबुल नदी) और मेहलू।

अभी जो सैकड़ों पुरातात्विक टीले खुदाइयों की प्रतीक्षा में खड़े हैं, उनकी खुदाइयाँ हो पातीं, तो संभवतः संस्कृति-सभ्यता की निरंतरता की कोई मुकम्मल तसवीर सामने आती। पर परिस्थितियों और संसाधनों को देखते हुए यह भी एक असंभाव्य सोच ही है।

सरस्वती को लेकर थानवी ने वेदों में उसके वर्णन के अलावा लोकचित्र में भी उसकी मान्यताओं को स्वीकार किया है। पुस्तक में कहा गया है “सरस्वती का जिक्र वेदों में ही नहीं, लोकचित्र में भी गहरे पैठा हुआ है। लोकचित्र की मान्यताएँ हमेशा निराधार नहीं होतीं।”

ऋग्वेद के कई सूक्तों और ऋचाओं में सरस्वती को लेकर विस्तृत वर्णन और लोक मानस में पैठी मान्यता के कारण कई महत्वपूर्ण संस्थान सरस्वती के भूमिगत प्रवाहमार्ग की खोज में जुटे हुए हैं। अब तो वह मार्ग लगभग ढूँढ़ लिया गया है। सरकार के स्तर पर भी यह मान लिया गया है कि वैदिक सरस्वती अपने तेज प्रवाह के साथ प्रवाहित हो रही थी। 12 दिसंबर, 2009 को राज्यसभा में पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में भारत सरकार के जल संसाधन मंत्रालय के मंत्री ने कहा कि वैदिक सरस्वती नदी के भूमिगत जलमार्ग को वैज्ञानिकों ने ढूँढ़ लिया है। अब इसमें कोई संदेह नहीं रह गया है। मंत्री ने इस संबंध में शोध कर रहे कई संस्थानों के निष्कर्षों के हवाले से इसे प्रस्तुत किया। जिन प्रमाणों को सामने रखा गया है, उनमें भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) तथा राजस्थान सरकार के भूमिगत जल विभाग के संयुक्त वक्तव्य का हवाला दिया गया है, जो ‘जर्नल आव इंडियन सोसाइटी आव रिमोट सेसिंग’ में प्रकाशित है। उसमें कहा गया है कि आरंभिक हड़प्पा, उन्नत हड़प्पा तथा परवर्ती हड़प्पा काल में उस संपूर्ण क्षेत्र में विशाल सरस्वती नदी प्रवाहित हो रही थी। ऋग्वेद में जिस वृहदाकार सरस्वती का वर्णन है, यह वही नदी है।

सरस्वती नदी के भूमिगत जलमार्ग की खोज में अनेक संस्थाएँ काफी पहले से लगी हुई थीं, इनमें प्रमुख नाम इसरो, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण, तेल और प्राकृतिक गैस निगम, भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र तथा केंद्रीय भूमिगत जल प्राधिकरण शामिल हैं। इनके विशेषज्ञों ने सरस्वती नदी की विद्यमानता को माना है।

भूगर्भ वैज्ञानिकों और पुरातत्वविदों ने हिमालय से लेकर समुद्र में मिलने तक का सरस्वती नदी का पूरा खाका पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है, पर अभी भी कई इतिहासकार ऐसे हैं जो इतर कारणों से इन सारे प्रमाणों को झुठलाने की कोशिश करते रहते हैं।

ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है “सभी नदियों में पवित्रतम तथा पर्वत से निकलकर समुद्र तक जाने वाली (गिरिम्यः आ समुद्रात् यसी) यह एक ही सरस्वती नदी चेतनामुक्त-सी चल रही है। यह भुवन को भूरि-भूरि धन प्रदान करती है।” (7. 75.2)

“एक गुत्थी जो वैदिक संस्कृति और सिंधु सभ्यता के रिश्ते की है” उसे पुस्तक में उठाया गया है। यह वास्तविकता है कि यह एक अनसुलझी गुत्थी है। इस पर अब तक सैकड़ों लोगों ने माथापच्ची की है, और अपने-अपने स्तर पर निष्कर्ष भी निकाले हैं, पर अभी भी इसमें आगे की संभाव्यता बनी हुई है। हाँ कुछ बातें, जो वैदिक संस्कृति और हड़प्पा सभ्यता के अलगाव को दिखाने के लिए प्रमाण के तौर पर कही जाती थीं, बाद की खोजों ने उन्हें हल कर लिया है। लोहा ऋग्वेद में भी नहीं है। वहाँ शब्द ‘आयसी’ है, जिसे कई लोगों ने लोहा मान लिया है। ऋग्वेद में एकाध जगह मिश्रित धातु की तरह की किसी धातु का उल्लेख जान पड़ता है, जैसे कि ऋषिका घोषा की एक ऋचा में विशपला की कटी हुई टाँग के स्थान पर धातु की टाँग का उल्लेख हुआ है। (10.39.8) आश्विनौ के कई तरह के कल्याणकारी कार्यों में इसका उल्लेख है। ‘आयसी’ शब्द ऋग्वेद में एकाधिक बार आया है, पर अधिकतर प्रयोग आयसी पुरीपाषाण पुरी के संदर्भ में है। जैसे वसिष्ठ एक ऋचा में अग्नि से प्रार्थना करते हैं

अग्नि, तुम पाषाणपुरी के समान हमारे सैकड़ों मनुष्यों की सुरक्षा करके हमारे संरक्षक बनो (शतभुजिः मही आयसी : पूः भव), ताकि हमें शत्रु न मार सकें। (7.15.14)

अरावाले पहिये के प्रमाण हड़प्पा सभ्यता में भी मिले हैं राखीगढ़ी, कालीबंगा, बणावली में इनके अवशेष मिले हैं। इसका उल्लेख कई पुरातत्वविदों ने किया है।

जहाँ तक अश्व का सवाल है, लोधन, सुरकोटड़ा, कालीबंगा आदि स्थलों के उत्खननों से यह प्रमाणित हो चुका है कि हड़प्पा सभ्यता में अश्व विद्यमान था। लोधन में उन्नत हड़प्पा से मिट्टी का अश्व प्राप्त हुआ है। लोधन में एक दाँत मिला है, जिसे जीव वैज्ञानिकों ने अश्व-दाँत कहा है। कच्छ के सुरकोटड़ा में घोड़े की हड्डियाँ भी मिली हैं। मैके (1938, खंड 1, पृ. 289) के अनुसार मुअनजोदड़ो के 1927 तथा 1931 के उत्खननों में प्राप्त पशुओं के मॉडलों में अश्व का मॉडल भी प्राप्त हुआ था।

कुछ लोग बैक्ट्रिया मरजियाना पुरातत्व क्षेत्र (बी एम ए सी) (2000-1700 ई. पूर्व) से भी वैदिक आर्यों को जोड़ने की कोशिश करते हैं। पर उस क्षेत्र में जो अवशेष मिले हैं, उनमें और वैदिक संस्कृति में कोई तालमेल नहीं है। इससे अधिक यहाँ कुछ कहना प्रस्तुत विषय की सीमा के बाहर जाना होगा।

यह पुस्तक वैसे तो मूलतः मुअनजोदड़ो की सांस्कृतिक-यात्रा पर केंद्रित है, पर मुअनजोदड़ो के अवशेषों के साथ हड़प्पा सभ्यता और वैदिक संस्कृति से जुड़े विषयों

पर अपने विचार रखते हुए ओम थानवी इस पर सार्थक बहस को आमंत्रित करते दिखाई देते हैं। पुस्तक में हड़प्पा सभ्यता से जुड़े उन विषयों को उठाया गया है जो डेढ़ सौ से भी अधिक वर्षों से पुरातत्त्वविदों, इतिहासकारों और भाषाविदों को उलझाए हुए हैं। अभी तक अनेक ऐसे विषय हैं जिनपर मतैक्य नहीं बन पाया है। वे अभी तक अनसुलझे हैं। मुख्य रूप से लिपि का विषय तो ऐसा है, जिसका सुलझना संभव नहीं जान पड़ता। इस पर सौ से ज्यादा विद्वान लगे रहे हैं, अभी भी लगे हुए हैं, पर नतीजा शून्य है। वैदिक संस्कृति और हड़प्पा सभ्यता के समय का जो व्यवधान है, वह भी निर्विवाद नहीं हो पाया है। गनीमत है कि आर्यों के आक्रमण का जो मिथक पश्चिमी विद्वानों और भारतीय वामपंथियों ने गढ़ा हुआ था या बाद में कुछ लोगों ने आर्यों के कहीं और से आकर भारत में बसने की कहानियाँ भी गढ़ रखी थीं, वे निराधार साबित हो चुकी हैं।

इस पुस्तक का विषय बेशक पुरातत्त्व है, पर इसकी भाषा और वर्णन में जो चित्रमयता है वह मनमोहक है। जैसे इस चित्रण को देखिए—आप इसकी किसी भी दीवार पर पीठ टिका कर सुस्ता सकते हैं। वह कोई खंडहर क्यों न हो किसी घर की देहरी पर पाँव रखकर सहसा सहम जा सकते हैं, जैसे भीतर कोई अब भी रहता हो। रसोई की खिड़की पर खड़े होकर उसकी गंध महसूस कर सकते हैं। शहर के किसी सुनसान मार्ग पर कान देकर उस बैलगाड़ी की रुनझुन भी सुन सकते हैं।”

एक और जगह ओमथानवी कहते हैं—“ठहरे हुए लैंडस्कोप में हजारों साल से लेकर पल भर पहले तक की धड़कन बसी हुई है। इसे देखकर सुना जा सकता है। भले ही किसी जगह के बारे में हमने कितना पढ़ सुन रखा हो, तसवीरें या वृत्तचित्र देखे हों, देखना अपनी आँख से देखना है। बाकी सब आँख का झपकना है।”

रोचकता और चित्रमयता इस पुस्तक की बहुत बड़ी खूबी है, जो इसके प्रत्येक पृष्ठ पर आप को आकर्षित करेगी।

## समीक्षात्मक लेख

### अहिंसा विश्वकोश\*

रामचंद्र प्रधान\*\*

पिछले कुछ दशकों में हिंसा के स्वरूप, संरचना और क्षेत्र विस्तार में काफी परिवर्तन हुआ है। साथ ही, उसके प्रतिकार करने वाले, जूझने वाले शांति आंदोलन में भी कई स्तरों पर बदलाव आया है। अहिंसा और उससे जुड़े मुद्दों पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिए इन बदलावों पर एक विहंगम दृष्टि डालना समीचीन होगा।

बीसवीं सदी के सातवें-आठवें दशक तक तो आणविक विश्वयुद्ध का खतरा मानव जाति के सिर पर मँडराता रहता था। शीत-युद्ध का सतत प्रकोप बना रहता था। संसार दो खेमों में बँटा हुआ था। दोनों खेमे एशिया-अफ्रीका के नवोदित राज्यों को अपने-अपने खेमे में शामिल करने के लिए सतत तत्पर दिखते थे। युद्ध संसाधनों और हथियारों के विकास की होड़ लगी रहती थी। इसी क्रम में नव-साम्राज्यवाद की भी समस्या उभरकर सामने आने लगी। पुराने उपनिवेशी राज्य और अमरीकी साम्राज्यवाद नवोदित राज्यों पर अपना शिकंजा ढीला करने की मनःस्थिति में नहीं थे। इधर सोवियत यूनियन और चीन भी पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया के कमजोर मुल्कों पर समाजवाद के नाम पर एक तरह के साम्राज्यवादी विस्तार के कार्य में संलग्न थे। इन समस्याओं से जूझने के लिए विश्व के प्रबुद्धजन शांति आंदोलन से जुड़ रहे थे। यों तो जोहन गाल्दुंग जैसे विचारक व्यवस्था में व्याप्त संरचनात्मक हिंसा की बात करने लगे थे, लेकिन शांति आंदोलन से जुड़े लोगों का ध्यान आणविक हथियारों के निरस्त्रीकरण की समस्या पर टिका हुआ था। वस्तुतः वियतनाम युद्ध का व्यापक प्रभाव शांति आंदोलन पर पड़ा। सात्र रसेल जैसे विश्व प्रसिद्ध विचारक इस आंदोलन में अपना योगदान देने लगे जिससे इसकी गरिमा और गांभीर्य में चार चाँद लग गए।

\* अहिंसा विश्वकोश, संपादक : नंदकिशोर आचार्य, प्रकाशक : प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर एवं भँवरलाल-कांता वाई जैन मल्टीपर्पज फाउंडेशन जलगाँव, मूल्य रु. 1500

\*\* डॉ. रामचंद्र प्रधान, भूतपूर्व प्राध्यापक, रामजस कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

आगे चलकर विभिन्न देशों के छात्र और शिक्षकगण इस आंदोलन की अगुवाई करने लगे। वही युग था जब विनोबा का भूदान-ग्रामदान आंदोलन अपने शिखर पर था। इतना ही नहीं, उसी दौर में समाज परिवर्तन की एक दूसरी धारा भी चल रही थी। चे गुवैरा, फ्रैंज फेनन, रेगिस डेब्री जैसे विचारक और क्रांतिकारी हिंसा के माध्यम से समाज परिवर्तन के कार्य में लगे हुए थे। वे हिंसा के माध्यम से एक समतामूलक समाज निर्माण की परिकल्पना कर रहे थे। इस प्रकार कई तरह के विचारधारा के लोग उदारवाद और मार्क्सवाद की स्थापित और परंपरागत सोच से अलग रास्ता खोजने और खोलने का प्रयास कर रहे थे। उसी क्रम में हिप्पी आंदोलन से लेकर नव वामपंथ विचारधारा का उदय हुआ। एक नई व्यवस्था की तलाश सब जगह दिख रही थी। भारत का नक्सलवादी आंदोलन, बिहार आंदोलन, गुजरात नव निर्माण तथा जनता पार्टी का उदय और इंदिरा गाँधी का सत्ता से हटना उसी बड़ी तलाश के हिस्सों के रूप में देखा जाना चाहिए। लेकिन बीसवीं सदी के आठवें दशक के दौर में इस तलाश और प्रयास की ऊर्जा खत्म होने लगी। ऐसा क्यों हुआ, यह अपने में एक दिलचस्प शोध का विषय हो सकता है। लेकिन इतना तो कहा जा सकता है कि शायद इस तलाश में मुख्य मुद्दा सत्ता परिवर्तन का ही था। किसी न किसी रूप में राज्य संस्था की केंद्रीयता की बात मान्य थी। तब तक राज्य संस्था के समाज परिवर्तन के कारगर औजार और साधन के रूप में काम करने की क्षमता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगने लगा था। लोक कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था चरमराने लगी थी। वह अपने दायित्व निभाने में अक्षम साबित होने लगी थी। इतना ही नहीं, मार्क्सवादी राज्य की भी सीमा और कमजोरियाँ जगजाहिर होने लगी थीं। इसीलिए राज्य की केंद्रीयता के स्थान पर बाजार की केंद्रीयता की बात विचारधारा के रूप में सामने आने लगी थी। राज्य द्वारा खाली किए गए स्थान बाजार की शक्तियाँ और नागरिक समाज में कार्यरत स्वयंसेवी संस्थाएँ ग्रहण करने लगी। 1991 में सोवियत यूनियन के विघटन से यह धारा और तेज हो गई। इसके साथ ही रूस, चीन सहित अन्य पूर्व मार्क्सवादी राज्यों में राज्य के स्थान में बाजार एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा। इसी से एक नए युग की शुरुआत हुई, जिसे उदारीकरण और वैश्वीकरण का युग कहा जाने लगा है। इसी क्रम में अमेरिकी वर्चस्व विश्व स्तर पर स्थापित होने लगा। इतना ही नहीं, पूँजीवादी व्यवस्था एक नए रूप में स्वीकृत होने लगी। विश्व राजनीति में एक दूसरा परिवर्तन भी हो गया। आतंकवाद का विस्तार विश्वस्तर पर हो गया। विशेषकर अफगानिस्तान, पाकिस्तान इसके मुख्य केंद्र बन गए। इराक युद्ध की इसमें अहम भूमिका रही। न्यूयार्क के ट्विन-टावर्स पर हमले के बाद आतंकवाद के विरोध के नाम पर बड़े पैमाने पर हत्या, हिंसा का दौर आया। इस प्रकार अब विश्वयुद्ध के स्थान पर क्षेत्रीय युद्ध का खतरा बढ़ गया। साथ ही आतंकवाद का चौतरफा विस्तार होने लगा। हत्या, हिंसा की मात्रा और प्रकार दोनों में विस्तार होने लगा।

इसके अलावा, देश-दुनिया के स्तर पर एक तीसरा परिवर्तन भी आ रहा था। राष्ट्र राज्य की पुरानी अवधारणा चरमराने लगी। उस पर दोतरफा हमला होने लगा। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं, बहुराष्ट्रीय कंपनियों तथा विश्व प्रहरी के रूप में अमेरिका का जगह-जगह हस्तक्षेप के माध्यम से राष्ट्र की संप्रभुता की पुरानी अवधारणा पर बाहर से सवालिया निशान लग रहा था। दूसरी तरफ उत्तर आधुनिकता, नव साम्राज्यवाद और आंतरिक साम्राज्यवाद की विचारधारा से प्रभावित होकर विभिन्न तरह के अल्प-संख्यक समूह अस्मिता की राजनीति करने लगे थे। वे भी हत्या, हिंसा का ही मुख्यतया रास्ता चुन रहे थे। साथ ही, लोक कल्याण राज्य का मुखौटा हटने के चलते वंचित वर्ग का भी हिंसात्मक विद्रोह होने लगा था। इस प्रकार संगठित-असंगठित दोनों रूपों में हत्या, हिंसा का विस्तार होने लगा। समाज परिवर्तन का अहिंसक रास्ता भी बंद होने लगा। लेकिन यह भी एक दिलचस्प तथ्य है कि हत्या-हिंसा के इस बढ़ते दौर में शांति आंदोलन की आवाज धीमी पड़ने लगी। हिंसा का जवाब हिंसा में दिया जाने लगा। इस प्रकार हिंसात्मक तरीके की सामाजिक मान्यता बढ़ने लगी।

हत्या, हिंसा के इस बढ़ते दौर में नंदकिशोर आचार्य द्वारा संपादित 'अहिंसा विश्वकोश' की चर्चा होनी चाहिए। इसे एक शाश्वत समस्या पर सामयिक प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए। इसकी सामयिकता के संदर्भ में इससे नंदकिशोर आचार्य जैसे बहुश्रुत व्यक्ति और स्वनामधन्य विद्वान का जुड़ना एक सुखद संयोग माना जाना चाहिए। साहित्य जगत में तो उनकी मान्यता सर्वविदित है ही, उन्होंने समाजशास्त्र और संस्कृति के क्षेत्र में भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान किया है। भारत के गाँधीवादी-समाजवादी परंपरा के वे एक मूर्धन्य चिंतक के रूप में माने-जाने जाते हैं। 'अहिंसा विश्वकोश' की रचना कर उन्होंने इस धारा को आगे बढ़ाने और सशक्त करने का एक महत्वपूर्ण प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों, चिंतकों और लेखकों को एकत्रित किया है। इस विश्वकोश के लेखों और लेखकों की सूची पर नजर डालने पर एक सुखद अनुभव होता है। इसमें धर्मशास्त्री, जीव-विज्ञानी, समाजशास्त्री, दार्शनिक, साहित्यकार, भौतिकशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्ता सभी तरह के लोग समाहित हैं। वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान का शायद ही कोई क्षेत्र बचा है, जिसके मूर्धन्य विद्वान इसकी सूची में शामिल न हों। इतना ही नहीं उनके द्वारा लिखा गया 'पुरोवाक्' इस ग्रंथ में चार चाँद लगा देता है। इतने विविध विषयों में दखल रखना अपने आप में परम पुरुषार्थ का काम है। वस्तुतः उनका 'पुरोवाक्' मात्र ग्रंथ की प्रस्तावना नहीं है इसमें तो इस 'विश्वकोश' का सार सर्वस्व आ गया है। इसमें आचार्य संग्रहित लेखों का मात्र संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते नहीं दिखते, बल्कि उनका अपने ढंग से आकलन भी करते चलते हैं। वस्तुतः इस ग्रंथ को समझने के लिए 'पुरोवाक्' को पढ़ना अपरिहार्य है।

इस विश्वकोश में तकरीबन 275 प्रविष्टियाँ समाहित हैं। लेकिन इन सबका केंद्र बिंदु तो अहिंसा है। यह भी ध्यान देने की बात है कि इसमें से आधे के लेखक स्वयं नंदकिशोर आचार्य ही हैं। एक मायने में आदि से अंत तक यह आचार्य का ही ग्रंथ है। यह भी उनके बहुश्रुत होने का एक अतिरिक्त प्रमाण है। प्रकाशकीय टिप्पणी में इसकी मुख्य विशेषता को रेखांकित करते हुए यह कहा गया है कि इसमें अहिंसा को एक बहुआयामी और अंतरानुशासनात्मक परिप्रेक्ष्य में देखा गया है।” इसमें संगृहीत प्रविष्टियाँ उपरोक्त प्रकाशकीय व्यक्तव्य को पूर्णतया समर्थन करती हैं। इसमें जीव विज्ञान, भौतिकी, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवविज्ञान, इतिहास, धर्मशास्त्र से जुड़े विभिन्न लेखों के माध्यम से यह दर्शाया गया है कि अहिंसा ही जीवन का प्राकृतिक और नित्य नियम है। और कभी-कभार हिंसा का नैमित्तिक उपयोग करने वालों को यह समझना होगा कि जीवन के शाश्वत नियम का उल्लंघन जीवन के लिए ‘लाभदायक’ नहीं हो सकता। इस ग्रंथ का मुख्य स्वर अहिंसा के रूप में एक होते हुए भी, इसमें इतनी अधिक विविधता है कि इसके सभी पक्षों पर इस समीक्षा में सम्यक् विचार नहीं किया जा सकता। हमें तो इसकी मूल स्थापनाओं पर संक्षिप्त टिप्पणी कर संतोष करना होगा।

इस ग्रंथ में एक मूल सवाल पर विचार किया गया है कि हिंसा-अहिंसा दोनों में से कौन-सी प्रवृत्ति मानव स्वभाव के ज्यादा अनुकूल है। इस संग्रह में जीवविज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्र से समाहित अनेकों प्रविष्टियों द्वारा यह रेखांकित किया गया है कि हिंसा मानव स्वभाव में ‘अंतर्जात’ नहीं है, बल्कि समाज व्यवस्था और सामाजिक मूल्य से आगत-निर्गत हुई है। दूसरी तरफ अहिंसा मनुष्य की मूल प्रवृत्ति के ज्यादा करीब है। यानी अहिंसा मानव-स्वभाव में ‘अर्जित’ से अधिक ‘अंतर्जात’ मूल्य है। इस मूल स्थापना को विभिन्न धर्मों के माध्यम से भी साबित किया जा सकता है। वस्तुतः सभी धर्म ‘अहिंसा’ के सिद्धांत के ही पक्षधर रहे हैं। यह तो सर्वविदित है कि बुद्ध धर्म, जैन-धर्म, ताओवाद आदि तो अहिंसक मार्ग के प्रबल समर्थक रहे हैं। लेकिन ईसाई और यहूदी धर्म का भी मूल स्वर अहिंसा का ही रहा है। क्योंकि दस धर्मदशों में मूलतः अहिंसक मार्ग को ही रेखांकित किया गया है। इस्लाम में भी बड़ी जिहाद तो मनुष्य को अपनी दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध छेड़नी है। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के आदेशों के आधार पर कहा जा सकता है कि उनमें सभी हिंसा के पक्षधर नहीं रहे हैं।

कुछ लोग धर्मदशों को यह कहकर दरकिनार कर सकते हैं कि उनकी अहमियत नैतिक शिक्षण से अधिक कुछ भी नहीं है। उन लोगों को इसमें विज्ञान के क्षेत्र से समाहित विभिन्न प्रविष्टियों पर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि उनमें यह दर्शाया गया है कि सृष्टितंत्र तो मूलतः परस्पर निर्भरता और पोषण पर आधारित है। वस्तुतः दृश्य जगत में जो भिन्नता दिखती है, वह ‘अपृथक् भिन्नता’ है। ‘गहन पारिस्थितिकी’ ने इसे निर्विवादित रूप से स्थापित कर दिया है कि जैव मंडल में सभी को जीवन का

अधिकार प्राप्त है और एकत्वबोध ही उसका मूलाधार है। इसका समर्थन हम समस्त विकासवादी सोच में भी पाते हैं और एकत्वबोध और परस्पर निर्भरता की बात को भौतिकी का भी समर्थन प्राप्त है। महात्मा गाँधी ने भी इसी आधार पर अहिंसा को अपने विश्वास का मूलाधार माना है।

यह सवाल उठाया जा सकता है कि अगर अहिंसा ही मानव स्वभाव का मूल स्वर है तो इतिहास के दौर में हिंसक घटनाओं की इतनी भरमार क्यों दिखती है? महात्मा गाँधी ने इस प्रश्न का जवाब देते हुए कहा था कि अगर मानव इतिहास सचमुच में हत्या, हिंसा का ही इतिहास रहा होता तो मनुष्य जाति अब तक खत्म हो गई होती। इस प्रकार यह मानकर चलना होगा कि मनुष्य की नित्यधर्म अहिंसा ही रही है। अब तो मनोविज्ञान क्षेत्र के मूर्धन्य विद्वान भी मानने लगे हैं कि हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं है। जो विद्वान हिंसा को मानव स्वभाव में अंतर्जात मानते भी हैं, उनका भी यह कहना है कि इसका उद्रेक तो बाह्य परिस्थितिजन्य है। यानी सामाजिक परिवेश ही हिंसक घटनाओं के लिए जिम्मेदार है। यह सही है कि कुछ मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि आक्रामकता की भावना मनुष्य स्वभाव में ‘अंतर्जात’ है। आक्रामकता का प्रकटीकरण हिंसा के रूप में हो सकता है। लेकिन इसी क्षेत्र के दूसरे विद्वान यह स्थापना रखते हैं कि यह भी ‘बाह्य उत्तेजना’ पर आधारित है। अगर बाह्य परिस्थितियाँ उत्तेजक नहीं होंगी, इस आक्रामकता का प्रकटीकरण संभव नहीं होगा। यानी आक्रामकता मूलतः संस्कृति और समाज सापेक्ष है। तंत्रिका वैज्ञानिक भी ऐसा मानने लगे हैं कि मानव मस्तिष्क में उच्चतर भावनाएँ विद्यमान हैं और उन्हें थोड़े प्रयास से सक्रिय किया जा सकता है। कुछ अन्य विद्वान यह भी मानते हैं कि ‘आक्रामकता’ का प्रकटीकरण हमेशा हिंसक नहीं, बल्कि अहिंसक भी हो सकता है। इतना ही नहीं, परपीड़न नहीं बल्कि ‘परहित’ मानव स्वभाव में अंतर्जात है।

इन सारे तथ्यों एवं विभिन्न क्षेत्रों में किए गए वैज्ञानिक अध्ययनों के आधार पर विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने अपने सेविले उद्घोषणा में तीन बातें स्पष्ट रूप से रेखांकित की हैं

1. वैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना गलत होगा कि हमारे अंदर हिंसा की प्रवृत्ति हमारे पशु-पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में मिली है।
2. वैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना भी असत्य होगा कि युद्ध का कारण अंतःप्रेरणा अथवा कोई एक प्रेरणा है।
3. इसलिए हमारा निष्कर्ष है कि मनुष्य जाति युद्ध के लिए जीवविज्ञान द्वारा अभिशप्त नहीं है। वस्तुतः अगर मानव-जाति ने युद्ध का अविष्कार किया है तो वह शांति और अहिंसा का आविष्कार करने में भी सक्षम है।

‘अहिंसा विश्वकोश’ के गहन अध्ययन से एक अहम सवाल यह उठता है कि अहिंसक समाज की स्थापना कैसे होगी? इससे जुड़ा सवाल यह भी है कि उस



‘अहिंसक समाज’ का ढाँचा-खाँचा क्या होगा। इस संदर्भ में एक दूसरा प्रश्न यह भी बनता है कि ‘अच्छी जिंदगी (Good life) को कैसे परिभाषित किया जाए? इन दोनों प्रश्नों की महत्ता इस तथ्य से है कि आदि काल से मनुष्य जाति की मुख्य तलाश अच्छी जिंदगी का अच्छे समाज की ही रही है। मानव चिंतन का हर क्षेत्र इसी तलाश की उधेड़बुन में रहा है। बात चाहे स्वप्नदर्शी समाजवाद की हो अथवा वैज्ञानिक समाजवाद, चाहे उदारवाद की हो अथवा अराजकतावाद की, चाहे माओवाद की हो चाहे गाँधीवाद की, इन सबका कथित गंतव्य तो अच्छे समाज और अच्छी जिंदगी का ही है। ‘अहिंसा विश्वकोश’ से भी इस गंतव्य का निर्धारण होता है। अगर आदर्श समाज को कुछ शब्दों में बाँधना हो तो इसके लिए तीन शब्द काफी हैं—स्वतंत्रता, समता और न्यूनतम समृद्धि। उसी तरह अच्छी जिंदगी तो वही कही जाएगी जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों को प्राप्त करने का अवसर और संभावना हो। इसीलिए हमारे पुरुषों ने चार पुरुषार्थ की बात की थी—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। अच्छी जिंदगी की यह सर्वश्रेष्ठ परिभाषा है क्योंकि इहलौकिकता और पारलौकिकता में संगत बैठी हुई है—अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों इसमें समाहित हैं।

अब सवाल यह आता है कि मानव जाति किस रास्ते से उस गंतव्य तक पहुँचेगी? इस पर भी काफी उधेड़बुन होती रही है। धार्मिक आध्यात्मिक चिंतन को थोड़ी देर के लिए अलग भी रख दें तो इतना तो तय है कि इहलोकवादी चिंतन में भी इस पर काफी मंथन हुआ है। हर विचारधारा के लोग इस पर विचार मंथन करते रहे हैं। इतना तो तय है कि स्वप्नदर्शी समाजवादी तो दिवास्वप्न देखते रह गए तो ‘वैज्ञानिक’ समाजवादी भी सर्वग्रासी और सर्वसत्ता संपन्न राज्य-व्यवस्था बनाने से आगे नहीं जा सके। जहाँ तक अराजकतावादी चिंतकों का सवाल है वे गंतव्य निर्धारण करने में ही अपनी इतिश्री कर बैठे। मार्ग पर उनका ध्यान गया ही नहीं। और पूँजीवाद को कोख से निकला उदारवाद भी एक विशिष्ट वर्ग की स्वतंत्रता और समृद्धि सुनिश्चित करने में ही अपनी सारी ऊर्जा गँवा चुका। इसमें समता और सामाजिक न्याय की बात तो धरी की धरी रह गई। ‘अहिंसा विश्वकोश’ की विभिन्न प्रविष्टियों से एक बात तो स्पष्ट है कि इस दिशा में महात्मा गाँधी का योगदान सबसे महत्वपूर्ण है। इस दिशा में विनोबा, जयप्रकाश और लोहिया जैसे उनके अनुयायियों का भी वैचारिक योगदान रहा है। इनके मुताबिक अच्छे समाज बनाने और अच्छी जिंदगी जीने के लिए तीन स्तरों पर काम करना होगा—राज्य, नागरिक समाज और व्यक्ति। राज्य के स्तर पर मुख्य काम तो उसकी काया, माया और छाया को छोटकर कम करने की होगी ताकि व्यक्ति की गरिमा, स्वतंत्रता और अस्मिता को सुनिश्चित किया जा सके। उसके साथ ही नागरिक समाज के तंतुओं, तंत्रों और तंत्रिकाओं का भी सशक्तीकरण करना होगा ताकि वह राज्य द्वारा व्यक्त स्थान और भूमिका को ग्रहण कर सके। इसमें गाँधी जी द्वारा ‘रचनात्मक कार्यक्रम’ की अहम भूमिका होगी। क्योंकि इसके माध्यम

से राज्य की काया छोटी होगी और नागरिक समाज की बड़ी। जहाँ तक व्यक्ति का सवाल है उसके मानस का पवित्रीकरण और उदात्तीकरण गाँधी जी द्वारा सुझाए ‘एकादश व्रत’ से होगा। उसमें भी अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों का सम्यक् समावेश है। राज्य, समाज और व्यक्ति तीनों स्तरों पर काम करने पर व्यक्ति बनाम व्यवस्था की बहस भी सुलझ जाएगी। रचनात्मक कार्यक्रम और एकादश व्रत में समाहित यम-नियमों की इस प्रक्रिया में अहम भूमिका होगी और इन सारे प्रयासों के बावजूद, जो अवशिष्ट अन्याय की समस्या होगी, उसका निराकरण व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह से किया जाएगा। इन सारी अवधारणाओं की जानकारी इस विश्वकोश में उपलब्ध है।

अंत में मेरा मानना है कि एक विस्तृत, व्यवस्थित और प्रामाणिक ‘अहिंसा विश्वकोश’ का समायोजन और संपादन कर नंदकिशोर आचार्य ने एक परम पुरुषार्थ का काम किया है। लेकिन अगर इसमें विषय प्रविष्टियों की सूची और लेखक वृंद का परिचय होता तो इसके पाठक उससे लाभान्वित होते। ‘अहिंसा विश्वकोश’ के लिए लेखक-वृन्द, संपादक, परामर्श मंडल और प्रकाशक द्रव्य को साधुवाद देने का लोभ का शायद ही कोई समीक्षक संवरण कर सके।

## हिंदी आलोचना क्षेत्र की एक गुरुत्वाकर्षण कृति : चिंतन और सर्जन का समीक्षा-विवेक\*

डॉ. नंदलाल मेहता 'वागीश'\*\*

हिंदी के सैद्धांतिक एवं सर्जनात्मक समीक्षा-क्षेत्र में पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' अपनी मौलिक संदृष्टि, विश्लेषण की सटीक तर्क-पद्धति, नवीन स्थापनाओं की उद्भावक शक्ति तथा तदनुसंधान भाषिक संरचना के लिए विख्यात हैं। वे बहुपठित एवं बहुभाषाविद् हैं। हिंदी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषाओं के वे अधीनी विद्वान हैं और साथ ही गुरुमुखी लिपित पंजाबी भाषा में भी उनकी सिद्धहस्त गति है। तर्कशाणित उनकी समीक्षा-पद्धति एवं उनका वक्तृत्व-कौशल अनुत्तर कोटि का है। विविध दृष्टिसंपन्नता से सिद्ध उनका साहित्यिक भावकत्व उन्हें सिद्धांताचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करता है। भाषा-विश्लेषण के अद्यतन पश्चिमी चिंतन और साहित्य में उनकी सन्नियोजित पद्धतियों को अधिगत कर उन्होंने हिंदी भाषा के पांक्तेय भाषा-विज्ञानी की प्रतिष्ठा अर्जित की है।

आचार्य शीतांशु द्वारा रचित 'चिंतन और सर्जन का समीक्षा-विवेक' नामक ग्रंथ हिंदी आलोचना क्षेत्र की एक गुरुत्वाकर्षण कृति है। ग्रंथ में संकलित उनके चौदह आलेख दो अनुभागों में वर्गीकृत हैं (1) चिंतन का समीक्षा-विवेक, (2) सर्जन का समीक्षा-विवेक। स्पष्ट है कि आचार्य शीतांशु ने चिंतन और सर्जन; साहित्य की दोनों विधाओं में विवेक-पक्ष की नियामकता को वरीयता दी है। बुद्धि और हृदय; विचार और भाव दोनों की विवेक-मर्यादा से रचित साहित्य में ही लोक-मंगल का विधान अवतरित होता है। इसलिए 'चिंतन और सर्जन का समीक्षा-विवेक' मात्र ग्रंथ का शीर्षक अभिधान नहीं है, अपितु यह शब्द-विधान अत्यंत सुचिंतित, सार्थक एवं

\* डॉ. नंदलाल मेहता वागीश, पूर्व प्रोफेसर सीनियर फेलो (Senior Fellow) संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, पता: शब्दालोक-1218, सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुड़गाँव; दूरभाष : 4077218।

\*\* चिन्तन और सर्जन का समीक्षा-विवेक, पाण्डेय शशि भूषण 'शीतांशु', भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली (2011)

साभिप्राय है। संदेश स्पष्ट है कि हिंदी को आलोचना-विधा के साथ वही समालोचक न्याय कर सकता है जिसमें सर्जनात्मक और चिंतनात्मक दोनों शक्तियों का समीक्षण-विवेक जाग्रत है।

यह आवश्यक नहीं और यह संभव भी नहीं है कि किसी भी भाषा का साहित्य मात्र सर्जनात्मक हो अथवा नितांत चिंतनात्मक हो। वस्तुतः सर्जन की पृष्ठभूमि में अमूर्त चिंतन और चिंतन की पृष्ठभूमि में एक अमूर्त सर्जनात्मकता अव्यक्तरूपेण सन्निहित रहती है। इसे जानना, समझना और अधिगत करना ही साहित्य-विवेक कहलाता है। यह साहित्य-विवेक ही हमारा पथ प्रशस्त करता है कि सर्जनात्मक कृति के मूल मर्म को कैसे भावित किया जाए और चिंतनात्मक प्रतिपत्ति में निहित लेखकीय विचार बीज को उसके पल्लवित स्वरूप सहित कैसे बुद्धिगत किया जाए। आचार्य शीतांशु ने अपने ग्रंथ में इसी साहित्य-विवेक को चिंतन और सर्जन-परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित, विवेचित और विस्तारित किया है।

आलेखों का क्रम-विवेक अत्यंत विचारित और युक्तिसंगत है। चिंतन का समीक्षा-विवेक अनुभाग एक के अंतर्गत नौ आलेख हैं। आलेख क्रम सात-आठ-नौ में विवेचित मार्क्सवादी चिंतन से ठीक पहले 'भारतीय साहित्य की अवधारणा' विषयक आलेख है। यह साभिप्रेत क्रम से प्रस्तुत केंद्रीय विवेचन है। प्रकटतः और परोक्षतः आचार्य शीतांशु यह संकेतित करना चाहते हैं कि भारत की साहित्य-परंपरा के पथिक होकर ही मार्क्सवादी आलोचक, आलोचना-कर्म के विवेक को प्राप्त हो सकते हैं। इससे पूर्व के पाँच आलेख अपनी पृथक् विषय-सत्ता के अंतर्गत होते हुए भी प्रकारांतर से भारतीय साहित्य की अवधारणा एवं तत्पर्याय साहित्य की भारतीय अवधारणा के उपस्थापक, आयाम-विस्तारक तथा समभाव-विचार-संचारक-संप्रसारक हैं। प्रथम दो आलेख गाँधी जी की बहुचर्चित पुस्तक 'हिंद स्वराज' की वैचारिक मान्यताओं के मूल्यांकन से संबंधित हैं। इस संदर्भ में उनका निष्कर्ष है कि गाँधीवादी चिंतन व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के स्तर पर विवेकशील एवं स्वाधीनचेता मनुष्य के निर्माण का संपूर्ण जीवन-दर्शन है। यह जीवन-दर्शन 'ज्ञान और कर्म' पर आधारित है। सुखद संयोग यह है कि समीक्षा-विवेक का तीसरा आलेख प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य विष्णुकांत शास्त्री द्वारा लिखित 'ईशावास्य अनुवचन : ज्ञान और कर्म' शीर्षक भाष्य के विवेचन से संबंधित है। डॉ. शीतांशु द्वारा किए गए विवेचन-विश्लेषण का सार यह है कि उपनिषद् ज्ञान हमें 'आत्मरिक्ति' से उबारता और 'आत्महंता होने से बचाता है। चौथे आलेख में डॉ. शीतांशु ने कालजयी साहित्य के घटक तत्वों को विवेचित किया है। इससे पूर्व उन्होंने साहित्य को कालांकित (कालबद्ध) और कालातीत, दो कोटियों में वर्गीकृत करते हुए, इन्हें क्रमशः रेखीय और चाक्रिक अवधारणा से संज्ञित किया है। कालबद्धता साहित्य का व्यावहारिक सत्य है तो कालातीतता एक पारमार्थिक सत्य। एक सावधिक है तो दूसरा निरवधिक। शाश्वतता, मानवताबोध, उदात्तता

आकल्पित-क्रियाशील-सर्जनात्मक मूल्यवत्ता कालजयी साहित्य के लक्षण हैं। कालजयी साहित्य के इन्हीं लक्षणों को दृष्टिगत करते हुए आचार्य शीतांशु ने 'गोदान' की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है और 'कामायनी' की कालजयी प्रवृत्ति का संकेतन किया है। इतना ही नहीं एक भाषाचिंतक के रूप में उनका कथन है कि 'देरिदा आज अपनी विभेदकता और प्रसरणशीलता' के जिन सिद्धांतों की बात करता है वे सिद्धांत कालजयी साहित्य में निहित अर्थवत्ता को उद्घाटित करते हैं (पृ. 68)। भारतीय साहित्य-दृष्टि के आलोक में इस ग्रंथ का पाँचवाँ आलेख है साहित्य का भविष्य शास्त्र और भविष्य का साहित्य। काल के अखंड रूप की पीठिका पर जिन अनेक कोणों से 'भविष्य के साहित्य के बहिरंग और अंतरंग पर विस्तृत विचार किया गया है उनमें कर्ता (रचनाकार) का नैमित्य, जगत-उपादानत्व-विस्तार में लेखिम-तंत्र, कूट अंतरण, कूट-मिश्रण, अंतरपाठ और विसंरचना-पाठ के आयामों सहित भविष्य के साहित्य-विचारण से संबद्ध दो भारतीय विचारकों महर्षि अरविंद तथा रामधारी सिंह दिनकर की मान्यताओं का उल्लेख है। साथ ही वाक् की स्फूर्त-संप्राप्ति के रूप में कविता के मंत्र होते जाने का भविष्याभास भी निहित है।

'चिंतन का समीक्षा-विवेक' अनुभाग का छठा आलेख है भारतीय साहित्य की अवधारणा। भारतीय साहित्य की अवधारणा को विवेचित करते हुए आचार्य शीतांशु ने ऐतिहासिकबहुकाल क्रम-सातत्य-परिप्रेक्ष्य में उन विशिष्टताओं को लक्षित किया है, जो भारतीय साहित्य को स्वरूपित करती रही हैं। इनमें से संस्कृत साहित्य, आत्मज्ञान-जिज्ञासा, अध्यात्म, धर्म, दर्शन, कला, संस्कृति, काव्य-शास्त्रीय चिंतन, स्थानकता-भाषा वैविध्य से परे राष्ट्रभावी केंद्रीय आस्था और उसके आलंबन, जीव मात्र के प्रति करुणा महाभाव, विभिन्न भाषाओं में प्रतिपाद्य की एकस्वरता, समकथानक एवं पात्र-प्रेरकता, मानववादी प्रगुणात्मकता, लोक साहित्य-संवेदना- एकरूपता, अनुवाद-परस्परण-दृष्टि तथा समस्त भारतीय भाषा-साहित्य में आधुनिक पाश्चात्य साहित्य एवं दर्शन-प्रभाव की ग्राह्यानुकूलता आदि विशिष्टताएँ प्रमुखरूपेण उल्लेखनीय हैं। शीतांशु जी की यह निष्कर्षात्मक टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय साहित्य एक गुणात्मक छत्रपद (Umbrella Term) है और भारत का प्रत्येक साहित्य इसके अंतर्गत समाहित है। (पृष्ठ 94)।

आचार्य शीतांशु द्वारा मार्क्सवादी आलोचना के संदर्भ से लिखे गए तीन आलेखों में प्रथम शीर्षक है हिंदी के मार्क्सवादी आलोचक और बुद्धिजीवी। दूसरा आलेख है हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना और साहित्य की बुनियादी समझ। तीसरे आलेख का शीर्षक है उत्तर मार्क्सवाद और हिंदी के मार्क्सवादी चिंतक। तीन शीर्षकों में क्रमित किए गए आलेख परस्पर पूरक हैं। मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि की समझ के लिए इसी उत्तरोत्तर क्रम में इनको पढ़ा जाना आवश्यक भी है। इन तीन आलेखों के पठनोपरांत कोई भी सुबुद्ध पाठक इस तटस्थ निष्कर्ष पर पहुँचता है कि हिंदी के

अधिसंख्य मार्क्सवादी आलोचकों को साहित्य की बुनियादी समझ नहीं है और यह भी कि साहित्य के प्रति मार्क्सवादी चिंतन के सही परिप्रेक्ष्य को समझने में भी मार्क्सवादी आलोचक असफल रहे हैं। आचार्य शीतांशु ने युक्तियुक्तता, सजग सिद्धता और सोद्धरणता से इन निष्कर्षों को पुष्ट-प्रमाणित किया है।

'हिंदी के मार्क्सवादी आलोचक और बुद्धिजीवी' आलेख में आचार्य शीतांशु का ऐसा मानना है कि मार्क्सवादी आलोचकों ने साहित्य की भावन-क्षमता और पाठकीय संवेदनशीलता को कुंठित-अवरोधित किया है। साहित्य में व्यक्ति, परिवार, बहुआयामी समाज, कालांकित और शाश्वत कालबोध, सर्जक की संवेदनशीलता तथा पाठकीय संवेदन-क्षमताएँ, सब इनके लिए बेमानी और निरर्थक हैं (पृ. 95)। मार्क्सवादी आलोचना-विस्तार के दूसरे आलोचक डॉ. नामवर सिंह की उस वस्तुनिष्ठ स्वीकारोक्ति को उद्धृत किया है, जिसमें नामवर सिंह कहते हैं कोई भी मार्क्सवादी आलोचक किसी भी साहित्यिक कृति को केंद्र में रखकर अब तक उसका विश्लेषण नहीं कर सका है (पृ. 101)। इसी आलेख में आचार्य शीतांशु ने साहित्य को कालांकित (कालबद्ध) और कालजयी स्वरूपों, उनकी भेदक दृष्टि तथा सन्नियोजन-पद्धति को 'कामायनी' और 'गोदान' कृति के संदर्भ से सोदाहरण स्पष्ट किया है। उनका यह मत समीचीन है कि अधिसंख्य मार्क्सवादी आलोचकों में साहित्य की सर्जनात्मक संवेदना का भावन करने की प्राथमिक पात्रता भी नहीं है, ऐसे में ये आलोचक कृति के मर्म तक कैसे पहुँच सकते हैं।

मार्क्सवादी आलोचना से संबद्ध तीसरा आलेख है उत्तर मार्क्सवादी और हिंदी के मार्क्सवादी चिंतक। यह मूलतः मार्क्सवादी समाज-दर्शन का समय-सांदर्भिक अध्ययन-विमर्श है। विडंबना यह है कि जहाँ हिंदी के मार्क्सवादी आलोचक यातयाम हो चुकी मार्क्सवादी मान्यताओं पर पुनर्विचार ही नहीं करना चाहते, वहाँ पाश्चात्य चिंतक अनपेक्षित आग्रहबद्धतावश मार्क्सवाद के शव-परीक्षण और इसकी उत्तरजीविता पर बहस कर रहे हैं। उनके वैचारिक वाग्जाल से प्रसूत परंपरित मार्क्सवाद, उत्तर मार्क्सवाद-1 और उत्तर मार्क्सवाद-2 का, साहित्य के भावन पक्ष से कोई सीधा संबंध नहीं है। सच बात तो यह है कि भारतीय साहित्य के संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतन विरूपाक्ष कोटि का है।

इस प्रकार चिंतन-समीक्षा विवेक के अंतर्गत मुख्य रूप से दो ही स्वर हैं। पहला स्वर है भारतीय साहित्य की अवधारणा का जो निज परंपरा, संस्कृति, दर्शन-अनेकत्व, नैतिक चेतना एवं भाषिक चैतन्य के अविच्छिन्न एवं समावेशी प्रवाह से सम्भृत है और दूसरा स्वर है हिंदी के मार्क्सवादी आलोचना-चिंतन का, जो आग्रह-दुराग्रहबद्ध, एकांगी, सीमित, संकीर्ण, मनुष्यता की विराट भावना से विच्छिन्न, वर्ग-विद्वेष और अप्रासंगिक विदेशी विचारधारा के दासत्वबोध से अभिशप्त है।

अवधेय है कि ग्रंथ का पूर्व पक्ष 'चिंतन का समीक्षा-विवेक' एक प्रकार से सिद्धांतन्यास है। उत्तर पक्ष 'सर्जन का समीक्षा विवेक' प्रयोज्यभूमिक पाँच आलेखों में फलित हुआ है। इस अनुभाग का पहला आलेख हैस्वातंत्र्योत्तर ललित निबंध के शिखर सर्जक। डॉ. शीतांशु ने इस विधा के तत्त्वों का निर्धारण करते हुए इसे अंतर पाठीयता की कुक्षि से उत्पन्न विधा कहा है। उनकी मान्यता है कि हिंदी की ललित निबंध-विधा भारतीयता और भारतीय मूल्यमान को सार्थक एवं जीवंत बनाए रखने वाली महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मकता है। (पृ. 121)। मस्तिष्क में 'हँसिया और हथौड़ा' का भार लेकर चलने वाले जनवादियों तथा राजेंद्र यादव द्वारा ललित निबंध विधा पर की गई फतवेनुमा टिप्पणी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को इस विधा का एकमात्र सर्जक घोषित कर अन्य सर्जकों के अस्तित्व को नकारने के डॉ. नामवर सिंह के आग्रह का भी डॉ. शीतांशु ने युक्तियुक्त और सतर्क रीति से खंडन किया है। ललित निबंध परंपरा में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद विद्यानिवास मिश्र एवं कुबेरनाथ राय के अवदान का उल्लेख करते हुए डॉ. शीतांशु ने प्रभाकर माचवे, शिवप्रसाद सिंह और अधुनातन ललित निबंधकारों में श्याम सुंदर दुबे, नर्मदा प्रसाद उपाध्याय और श्रीराम परिहार का भी नामोल्लेख किया है।

दूसरे आलेख 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल की गद्यभाषा' में डॉ. शीतांशु का प्रखर भाषाविज्ञानी-अधिगुण प्रतिफलित हुआ है। लेखक के अनुसार आचार्य शुक्ल की गद्य-भाषा के चार रूप हैंसाहित्येतिहास लेखन का गद्य, सैद्धांतिक समीक्षण का गद्य, व्यावहारिक आलोचन-गद्य तथा मनोभावमूलक निबंध लेखन का गद्य। आचार्य शुक्ल की गद्य भाषा के उक्त चारों प्रकार के लेखन के समान अभिलक्षणों को, शैलीमापक्री विश्लेषण-कोटि के आश्रय से, डॉ. शीतांशु ने मुख्य रूप से जिन तीन स्तरों पर सांगोपांग एवं सोदाहरण रीति से रेखांकित किया है, वे हैंशब्द संरचना-स्तर, वाक्य संरचना-स्तर, अर्थ संरचना-स्तर। आचार्य शुक्ल के गद्य भाषा-संरचना-सामर्थ्य का ऐसा सर्वांग-सघन-सजग विश्लेषण हिंदी आलोचना क्षेत्र में एक नूतन गवाक्ष खोलता है।

एक शिखरस्थ भाषा-विज्ञानी के रूप में डॉ. शीतांशु की आचार्य-प्रतिमा का साक्षी है, उनका अगला आलेख 'गोदान : अभिव्यक्ति और अर्थ-प्रकृति की पहचान।' चालीस पृष्ठों से भी अधिक पृष्ठों पर विश्लेषित अंतर्वस्तु से समृद्ध यह आलेख, कथ्य-त्रुद्धि से कला-सिद्धि तक की गोदान की भाषा-यात्रा का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रेमचंद की भाषा के सर्जनात्मक सामर्थ्य को लक्षित करते हुए डॉ. शीतांशु का कथन है कि 'संवेदनशीलता, स्थितिगत 'वास्तव' की समझ, भाषा और समाज के अन्योन्य संबंध की चेतना, शब्दार्थ-सजगता, चित्तसंज्ञा और 'अन्यथाकरण' के 'विचलन' तथा 'समांतरता' के कलात्मक कौशल के सहारे प्रेमचंद ने अपनी कथा-भाषा का सार्थक-विन्यास किया है। (पृ. 144)। लिखित और वाचिक अभिव्यक्ति

के अंतर्गत देहांग-भाषा का अपना महत्त्व है और उसमें भी 'आँखों की भाषा' का सामर्थ्य सर्वोपरि है। डॉ. शीतांशु ने 'गोदान' की कथा-भाषा में 'आँखों की भाषा' के प्रसंगों, प्रयोग-स्थितियों, वाचक शब्दों और उनकी अर्थवत्ता को प्रभावी रूप से उद्घाटित किया है। 'गोदान' में स्थितियों की सही समझ को व्यक्त करने वाली प्रोक्तियों को उद्धृत करते हुए डॉ. शीतांशु ने चित्तसंज्ञा के आलोक में भावसत्तात्मक प्रोक्तियों में निहित अवयवमूलार्थ-विस्तार को गुण सूत्र पद्धति से उद्घाटित किया है। इतना ही नहीं, शब्दार्थ-सजगता को उद्धरणों से पुष्ट करते हुए उन्होंने कथा-भाषा में प्रयुक्त समाज के विविध स्तरों के अभिव्यंजक भाषारूपों तथा मानक भाषा, विभाषा, वर्गभाषा एवं व्यक्ति भाषा की बुनावट और उनकी प्रयोग-सार्थकता को भी रेखांकित किया है। 'गोदान' की कथा-भाषा में प्रयुक्त अनेक उपकौशलों के संग अन्यथाकरण के विशिष्ट कौशल से विचलित अर्थस्तर से डॉ. शीतांशु ने 'गोदान' पदसंज्ञा को सीमित अर्थ-व्यंजना से मुक्त कर उसमें निहित बह्वर्थी साभिप्रायता को होरी, रूपा, खन्ना, गोविन्दी, मालती और मेहता जैसे विभिन्न चित्तवृत्ति-पात्रों के संदर्भ से सार्थक विस्तार दिया है। प्रोक्ति और कथा-संरचना में व्याप्त भाषिक अन्यथाकरण के उपकौशल समांतरता को शब्द, वाक्य, रूप और वृत्ति-स्तर पर भी घटित हुआ दर्शित किया गया है। डॉ. शीतांशु द्वारा कृत 'गोदान' का सर्वांगव्यापी भाषिक विश्लेषण स्वयं में अनुपम एवं अपूर्व है।

चौथे आलेख का शीर्षक हैस्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास और शिल्प : सामाजिक संपृक्ति के विकल्प-संकल्प। स्पष्ट है कि इस आलेख में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास-शिल्प के विविध रूपों पर सामाजिक संपृक्ति के संदर्भ से विचार किया गया है। शिल्प तत्त्व को अंग्रेजी रूपांतरण-संप्राप्ति से मुक्त कर उसे सर्वांग-साकल्य-रचनात्मकता का पर्याय मानते हुए डॉ. शीतांशु ने रचनाकार के रचना-प्रक्रिया-पक्ष और भावकत्व-अभिज्ञानशीलता, इन दोनों को शिल्प-साकल्य की सर्जनात्मकता में अंगीभूत किया है। समाज और साहित्य के त्रिधात्मक संबंध रूपांतरणात्मक, अभिव्यंजक और कथापरकपर विचार करते हुए डॉ. शीतांशु ने समाज-भाषा-चिंतन की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर समाज की विखंडनशीलता का संज्ञान लेते हुए कहा हैहमारा यह समाज विघटित होता हुआ समाज है, जिसके पास न कर्म-संस्कृति शेष रह गई है और न ही नैतिक संस्कृति। हमने मानवीय समाज की जगह प्रतिसमाजों (Anti Societies) को जन्म दिया है। (पृ. 190)। सामाजिक संपृक्ति-विभक्ति का संकेतन करते हुए डॉ. शीतांशु ने स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में प्रयुक्त बारह प्रकार की शिल्प सर्जनाओं के पीठासन पर हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, मन्मथनाथ गुप्त, उपेंद्रनाथ अशक, सेठ गोबिंद दास, यज्ञदत्त शर्मा, जैनेंद्र, भीष्म साहनी, राजकमल चौधरी, इलाचंद्र जोशी, प्रभाकर माचवे, फणीश्वरनाथ रेणु, श्रीलाल शुक्ल, राजेंद्र यादव, राही मासूम रजा, जगदंबा प्रसाद दीक्षित, उमाशंकर भट्ट, डॉ. शिव प्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती और

अलका सरावगी की औपन्यासिक कृतियों को सामाजिक संपृक्ति-आधार पर विवेचित करते हुए एक अर्थपूर्ण टिप्पणी की है। अभी हिंदी उपन्यास को शैलिक ऊँचाई के साथ-साथ उस सामाजिक संपृक्ति को भी प्राप्त करना शेष है, जो केवल लेखक और समाज के बीच की संपृक्ति नहीं, बल्कि अपने देश के व्यापक विशद समाज के मनुष्य और मनुष्य के बीच की पारस्परिक संपृक्ति है। (पृ. 208)।

इस अनुभाग का पाँचवा और ग्रंथ का अंतिम आलेख है। उत्तर शती का हिंदी साहित्य : भाषिक आयाम। कथित उत्तर शती की कालसीमा सन् 1975 से 2000 के बीच की है। पश्चिम में विकसित साहित्येतिहास-दर्शन की अध्ययन-पद्धति को रेखांकित करते हुए डॉ. शीतांशु ने विशुद्ध भाषाविज्ञान-विज्ञता-निकष पर आधारभाषाई और सर्जनात्मक भाषाई दृष्टि के भेद को स्पष्ट किया है। उत्तरशती उपन्यास के संदर्भ में उनका मत है कि आधार भाषा की दृष्टि से इस समय-सीमा में हिंदी उपन्यासों में कूट-अंतरण (Code-shifting) अधिक हुआ है। सर्जनात्मक दृष्टि से आवृत्ति (Repeatability) और प्रतीपता (Reversion), दोनों प्रोक्ति-संरचना के औजार के रूप में उभरे हैं। (पृ. 214)। इसी क्रम में डॉ. शीतांशु ने उत्तर आधुनिकतागत लीलाभाव, अंतरपाठीयता, समकालीन साभिप्रायता, प्रोक्तिभाषा तथा विसंरचना (Deconstruction) के बीच शब्दों और अभिलक्षणों के माध्यम से विभिन्न विधाओं के गठनात्मक गुण-वैशिष्ट्य को सोदाहरण उद्घाटित किया है। जहाँ तक आलोचना का संबंध है तो अंतर ज्ञानानुशासनात्मक पारिभाषिक पदता, कारण-कार्य भाषिक संपन्नता तथा तर्काश्रित एवं वस्तुनिष्ठ रूपात्मकता से समृद्ध हुई उत्तरशती की आलोचना विधा को डॉ. शीतांशु का प्रशस्तिभाव प्राप्त है।

डॉ. शीतांशु प्रतिष्ठित भाषाविज्ञानी हैं। उन्होंने पौरस्त्य एवं पाश्चात्य भाषा चिंतन का गहन अध्ययन किया है। इसीलिए किसी भी सर्जनात्मक कृति का वैचारिक व्याख्यान करते समय उन्होंने उसमें निहित पारिभाषिकों, सिद्धांत-कथनों एवं विशिष्ट शब्द-प्रयोगों के सामर्थ्य को व्याकरणिक एवं भाषिक तत्त्व दृष्टि से भी उद्घाटित किया है।

समग्ररूपेण भारतीय साहित्य एवं भाषा-चिंतन की व्यापक भूमिपीठ पर डॉ. शीतांशु ने चिंतन और सर्जन के विवेकपूर्ण समीक्षा-स्वरूप को उद्घाटित कर हिंदी आलोचना के लिए एक अज्ञातपूर्व पथ को आलोकित किया है। उनके ग्रंथ के आधारभूत विवेचन के तीन आयाम हैं। पहला आयाम कालजयी साहित्य-अभिलक्षणों के साक्षित्व में भारतीय चिंतन-सूत्रों को उद्घाटित करना है। ग्रंथ के पहले आलेख से छठे आलेख तक की एकसूत्रता को इस विचार दृष्टि से समझा जा सकता है। ग्रंथ का दूसरा आयाम हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों और साहित्य के प्रति उनकी बुनियादी समझ की गति-अवरुद्धता एवं जड़ता को रेखांकित करता है। विवेचित सामग्री का तीसरा आयाम भाषाविज्ञान क्षेत्र में पाश्चात्य साहित्य-चिंतन की अद्यतन प्रवृत्तियों,

भाषिक अभिव्यंजनाओं, शब्द-वाक्य-प्रोक्ति पथ से कथ्य के मर्मबोध की उपलब्धियों और समग्रतः रचना में निहित विविध उद्भावनाओं को भावकत्व बोध का विषय बनाता है।

वस्तुतः समालोचना कर्म का शुभ ही तभी घटित होता है जब समालोचक सर्जनात्मक अथवा चिंतनात्मक कृति के केंद्रीय बीजभाव-संवेदना-विचार को स्वानुभूति में परिणत कर लेता है। केवल उसी स्थिति में वह उसकी विवेचनात्मक परिधिगम्यता को अधिगत करने की पात्रता पा सकता है। प्रतिपाद्य के मर्म से यथाभावित हुए बिना आलोचना-कर्म में उतरना दुस्साहस है। दुर्भाग्य से हिंदी भाषा के अधिसंख्य मार्क्सवादी आलोचक इसी दुस्साहस के अभ्यासी हैं। ध्यातव्य है कि डॉ. शीतांशु ने हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना-दृष्टि को न्यायपूर्वक ताटस्थ्य से समझने-समझाने का अपेक्षित प्रयास किया है। इसी संदर्भ में उन्होंने मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा की चिंतन-सुपथता के प्रति समादर प्रकट किया है और कई स्थलों पर डॉ. नामवर सिंह की सत्य-स्वीकरण-सदाशयता को प्रशंसित भाव से लिया है। इतना अवश्य है कि डॉ. शीतांशु ने मार्क्सवादी आलोचकों से, कृति में निहित साभिप्रायता की समझ के लिए अंतर्गर्भी दृष्टि की अपेक्षा की है। यदि ऐसा हुआ तो यह न केवल हिंदी आलोचना-क्षेत्र के लिए बल्कि स्वयं मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन के लिए भी शुभ होगा।

## साहित्य में समाज की अंतर्लीनता का प्रश्न\*

डॉ. धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री'\*\*\*

प्रस्तुत समीक्ष्य पुस्तक में प्रकाशित 'पृष्ठाधार' के अतिरिक्त सात आलेख संकलित किए गए हैं और अंत में संदर्भ ग्रंथों की तालिका के साथ-साथ प्रस्तावित निबंधों से संबद्ध सूचना दी गई है।

समीक्षाशास्त्रियों ने साहित्य और समाज के संबंध पर अनेकविध विचार किया है। समीक्ष्य पुस्तक उसी शृंखला को बल प्रदान करती है। विद्वान विचारक डॉ. प्रसाद ने साहित्य में समाज किस सीमा तक अंतर्भुक्त है पर प्रायोगिक रूप से खंडनात्मक-मंडनात्मक पद्धति से विचार किया है और अपने विविध आलेखों द्वारा साहित्य में समाज की अंतर्लीनता को स्वीकार किया है। 'पृष्ठाधार' में यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक रचना के पीछे साहित्यकार कोई न कोई आधार ग्रहण करता है। किसी कृति के पीछे जो आधार होता है, वही पृष्ठाधार है। प्रस्तुत ग्रंथ में जो आलेख संकलित हैं, वे लेखक के संकल्पित मानस की देन हैं, जिसके लिए लेखक की अंतर्मानसिक क्रियाशीलता सतत सकारात्मक रूप में कार्य करती रही है। लेखक ने स्वीकार किया है "वस्तु को उसके सही आधार-स्रोत में देखना और उचित तत्त्वदल प्रदान करना, मेरा हेतु रहा है।" (पृ. 5)

लेखक ने यह स्वीकार किया है कि निबंध आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों प्रकार के होते हैं। वस्तुनिष्ठ निबंध विश्लेषणात्मक होता है। इसके साथ ही उसमें अंतर्दृष्टि सन्निहित रहती है, जिसके कारण उसमें काव्यत्व गुण आ जाता है। रचना

\* लेखक : प्रो. विश्वनाथ प्रसाद, अयन प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली, पृ. 167, प्रथम संस्करण-2010, मूल्य 200/-

\*\*डॉ. धर्मदेव तिवारी शास्त्री, आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, कॉटन कॉलेज तथा गुवाहाटी विश्वविद्यालय और पूर्व अतिथि आचार्य हिंदी विभाग, अरुणाचल विश्वविद्यालय, ईटानगर तथा त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला।

के कथ्य, पात्र, भाव, विचार, संवेदनात्मक अनुभूति आदि का प्रस्तुतीकरण प्रतीक के माध्यम से होता है। अतः निबंध-रचना प्रतीकात्मक भी होती है। पौराणिक पात्र, कथ्य आदि भारतीय संस्कृति और उसकी परंपरा, जीवन मूल्य बोध तथा सामाजिक संरचना के प्रतीक हैं।

सच तो यह है कि प्रारंभिक अवस्था में साहित्य मनोरंजन प्रदान करने वाला माना जाता था, जिसकी चरम परिणति रसोपलब्धि, साधारणीकरण में होती है। इसके साथ ही उसका संबंध समाज से हो गया। इस संबंध की वास्तविकता तथा यथार्थता की गहराई को खोजने के लिए साहित्य में 'समाज की अंतर्लीनता का प्रश्न' संज्ञक शीर्षक की आवश्यकता आ पड़ी। इस प्रकार विवेच्य ग्रंथ के शीर्षक की सार्थकता, उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

'कबीर और उनका अनहल समीकरण' इस ग्रंथ का द्वितीय आलेख है। सच तो यह है कि कबीर का समस्त रचना संसार समाज के यथार्थ के सत्य का दस्तावेज है जो उनका माँगा हुआ है, प्रत्यक्षीकृत है। कबीर ने अपने पूर्ववर्ती त्रित्व को आत्मसात् कर अपने काव्य को सृजित किया है, यही कारण है कि उनमें वीर रसात्मकता, नाथ-सिद्धों की साधनात्मकता और विद्यापति की शृंगारात्मकता के तत्त्व विद्यमान हैं। लेखक ने स्वीकार किया है कबीर में डॉट-फटकार या अक्खड़ता का जो भाव है, उसके पीछे वीर भाव ही हैं। साहस वीर-भावापन्न व्यक्ति ही कर सकता है। 'जो घर जारें आपना सो चले हमारे साथ' की घोषणा दुर्बल हृदय से नहीं निकल सकती। उनके काव्य में जो योगपरक रहस्यात्मक उक्तियाँ और बिंब हैं, उनके लिए वे नाथों-सिद्धों के ऋणी हैं। उनके काव्य में प्रेम और भक्ति की जो तीव्रता है, वह विद्यापति की देन है। (पृष्ठ 51-52)। इतना होते हुए कबीर प्रतिभा संपन्न व्यक्ति हैं और उन्होंने सदा सत्य का उद्घाटन किया है। कबीर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं अवश्य, पर उनकी रचनाओं में भक्ति तत्त्व बीज रूप में विद्यमान हैं। उनकी रचना हिंदू-मुसलमान के बीच सेतु, बाह्य आडंबर का विरोधी, औघड़-फक्कड़ कवि के साथ-साथ रहस्यवादी चेतना से आबद्ध है।

कबीर क्रान्तद्रष्टा हैं और जो क्रान्तद्रष्टा होता है वह समाज के सत्य और अध्यात्म दोनों क्षेत्रों को समान रूप से महत्त्व देता है। अस्तित्व दर्शन संपूर्णता और असमानता का दर्शन है। अस्तित्व-दर्शन में सूक्ष्म और स्थूल, अंतर्मुख और बहिर्मुख, आत्मसाधना और समाज साधना सब कुछ समाहित हो जाते हैं। (पृ. 54) जब वह आत्मसाधक बहिर्मुखी होता है, तब समाज के यथार्थ सत्य को उजागर करता है और पापाचारी, पाखंडी लोगों पर गुरुतर भार वाले हथौड़े से जोरदार प्रहार करता है। ऐसे में उसका तेवर और उसकी भाषा आक्रामक तथा आक्रोशमय हो जाती है। इस प्रकार प्रस्तुत लेख कबीर को समझने में पूर्णतः सहायक है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी का इतिहास दर्शन इस समीक्ष्य कृति का तीसरा लेख है। लेखक ने इस निबंध के माध्यम से उनके समस्त लेखन पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से विचार-विमर्श किया है। उन्होंने साहित्य का इतिहास, उपन्यास, निबंध तथा मूल्यांकनपरक ग्रंथों की रचना की है। प्रतिभासंपन्न रचनाकार विविध प्रकार की रचना करता है अवश्य किंतु उनमें एक प्रकार की जीवन-दृष्टि केंद्रस्थ रहती है। आचार्य द्विवेदी जी के लेखकीय स्वरूप पर या चिंतन-सरणि पर किसी पाश्चात्यवाद का प्रभाव नहीं है, क्योंकि उनमें संस्कृति-संवेदना मूल रूप में विद्यमान है। अतः यह स्वीकार किया गया है कि द्विवेदी जी के इतिहास का पक्ष केंद्र संस्कृति है और मूल्य-बोध, इतिहास-बोध तथा स्मृति-बोध उसके विस्तारक आयाम हैं।

विचारक प्रो. प्रसाद ने द्विवेदी जी की जन्म शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित निबंध-आलेखों के आधार पर विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोणों को रखा है। उसके आधार पर द्विवेदी जी को अतीतवादी, मानवतावादी और यथार्थवादी, समाजवादी, लालित्यवादी और पुनर्मूल्यांकनकर्ता स्वीकार किया गया है। इनके पक्ष में लेखक ने द्विवेदी जी की रचना से प्रमाण स्वरूप पंक्तियाँ उद्धृत की है। आगामी पंक्तियों में लेखक ने संस्कृति और मूल्य तथा संस्कृति और इतिहास जैसे बिंदुओं पर विचार किया है।

विवेच्य कृति का अगला निबंध है 'काव्य के प्रश्न और आचार्य केसरी कुमार के प्रपद्यवादी समाधान'। लेखक का विचार है कि प्रपद्यवाद को समझे बिना छायावादोत्तर काव्य प्रवृत्तियों को समझा नहीं जा सकता। इस तथ्य को ध्यान में रखकर प्रस्तुत आलेख लिखा गया है। यहाँ लेखक ने काव्य और काव्य के प्रश्न को उपस्थित किया है, जिसके समाधान हेतु उसने प्रपद्यवाद के काव्य द्वारा इसका समाधान खोजने की चेष्टा की है। वह बदलते हुए आधुनिक परिवेश को समझने के लिए नया धरातल तैयार करने का पक्षधर है।

प्रपद्य विरोधी खेमे ने यह आरोप लगाया है कि प्रपद्यवादी रचना की कटु आलोचना की है, जिन्हें आचार्य केसरी कुमार ने कई रूपों में व्यवस्थित किया है। (पृ. 103) आचार्य केसरी कुमार के कथन को लेखक ने प्रमाणस्वरूप उपस्थित किया है : "कविता मनुष्य की सांस्कृतिक उपलब्धि है और जैसा निवेदन किया गया है, कविता की उपयोगिता एक ऐसी सामाजिक स्थिति की सृष्टि में है, जो आदमी की समझदारी बढ़ाए, जिसमें आदमी मुक्त वैयक्तिक अनुशीलन के आकाश में ताजगी पाए तथा जिससे एक विकसित दृष्टि एवं गति लेकर जीवन के प्रश्नों से उलझे और इस प्रकार जक-थक की स्थिति से संस्कृति को आगे ले चले।" (पृ. 140) इसके पश्चात्, प्रपद्यवाद पर जितने भी आरोप लगाए गए, उनका समुचित समाधान प्रो. केसरी कुमार ने किया है।

'हिंदी उपन्यास : उद्भव और उसके दृष्टि-निर्धारण में संस्कृत की भूमिका' शीर्षक लेख में लेखक ने हिंदी उपन्यासों के उद्भव पर नए विधि-विधान से विचार किया, जो उसके प्रचलित नियमों को नकारता है। यह मान्यता स्थिर हो गई है कि हिंदी उपन्यास का जन्म पश्चिमी प्रभाव के कारण है, जो बांग्ला साहित्य से होकर आया है, पर विद्वान लेखक ने अपने अनेक शोधात्मक तर्कों से यह सिद्ध किया है कि हिंदी उपन्यासों का आदिम स्रोत या उद्भव संस्कृत साहित्य ही रहा है। क्योंकि भारतीय चिंतनधारा आनंदमय, रसमय है और उसकी संस्कृति विश्वबंधुत्व की है, जिसका प्रतिफलन गोदान, वाणभट्ट की आत्मकथा, पुनर्नवा, अनामदास का पोथा, चित्रलेखा, शेखर: एक जीवनी, नदी के द्वीप, मैला आँचल, बलचनवा आदि में पूरी तरह वर्णित-चित्रित सुरक्षित है। परवर्ती उपन्यासों में जब संघर्ष, संत्रास का वर्णन होने लगा, तब बाहरी तत्त्व का समावेश हो गया। पश्चिम के देशों में वादों का जन्म होता रहा है, जिससे साहित्य-विश्लेषण का नया-नया मार्ग प्रशस्त होता रहा है। इसी क्रम में लेखक ने विधेयवाद (Positivism) को देखा-परखा है, उसे विश्लेषित किया है। इसके जन्मदाता फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक आलोचक तायँ (Taine) हैं, जो यूरोप के बाद विश्व के विभिन्न देशों में फैल गया। इसके अनुसार कला-सृष्टि के तीन निर्णायक तत्त्व हैं, वे हैं जाति ( Positivism), वातावरण (Millieu) और क्षण (Moment)। यह वाद भौतिक विज्ञान की प्रणाली को मानता है, जिससे कार्य-कारण संबंध के आधार पर लेखन सामग्री एकत्र की जाती है। इस वाद में भाव जगत् और कल्पना जगत् का स्थान नहीं है। इसकी मान्यता है कि कला साहित्यालोचन और साहित्येतिहास का अनुशीलन-परीक्षण विधेयवाद के आधार पर होना चाहिए।

आपाततः यह लगता है कि उक्त सिद्धांत पूर्णतः सही है, क्योंकि रचना बाह्य वातावरण, परिवेश से अपने को निरपेक्ष नहीं रख सकती। कालांतर में कला-सृष्टि के उक्त निर्णायक तत्त्वों को आलोचकों ने आलोचना का निर्णायक तत्त्व मान लिया है। गंभीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि जाति, वातावरण और क्षण हमारे सभी प्रश्नों का समाधान नहीं कर सकते। यहाँ साहित्यकार की संवेदनात्मक अनुभूति, अंतर्वेदना की उपेक्षा की गई है। प्रो. प्रसाद ने इस वाद का परीक्षण तटस्थ आलोचक की तरह किया है। सच तो यह है कि उक्त वाद का प्रभाव यूरोपीय देशों में ही निष्प्रभ हो गया था।

'हिंदी साहित्य की महान परंपरा : तत्त्व और आलोचना' संज्ञक आलेख प्रस्तुत संग्रह का अंतिम निबंध है। यहाँ आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की अमर कृति 'इतिहास दर्शन' पर विचार किया गया है। महाविवेचक डॉ. प्रसाद ने स्वीकारा है जैसे समस्त ज्ञानांगों का इतिहास दर्शन होता है, वैसे ही साहित्य का भी इतिहास-दर्शन होता है। जो इतिहास लिखता है, वह घटनाओं का विवरण और विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जो इतिहास पढ़ता है, वह वर्णित हो चुकी घटनाओं को केवल पढ़ता है,

परंतु जो इतिहास दार्शनिक होता है, वह घटनाओं को जन्म देने वाली प्रेरणाओं, परिस्थितियों एवं परिवेश के परिप्रेक्ष्य में उनके कारणों के कारण का सूक्ष्म-सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिंतन करते हुए एक ज्ञानमीमांसक आधार निर्मित करता है। (पृ. 151) भारतीयों पर यह आरोप लगाया जाता है कि भारत के इतिहासविद इतिहास लिखना नहीं जानते हैं। इससे पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता। हाँ, इतना अवश्य स्वीकार किया जाएगा कि इतिहास लेखन के लिए जिन तिथि क्रमों, घटनाक्रमों पर पश्चिमी विद्वानों ने जितना अधिक ध्यान दिया है, उतना भारतीयों ने नहीं।

आचार्य प्रसाद ने इतिहास दर्शन की विशेषताओं की ओर इंगित किया है और साहित्य की महती परंपरा की ओर भी संकेत किया है। इस क्रम में परंपरा के अर्थ और साहित्येतिहास में उसकी उपयोगिता पर विचार-विमर्श किया गया है। लेखक ने माना है एक के द्वारा दूसरे को दी जानेवाली वस्तु या एक द्वारा दूसरे से प्राप्त की जाने वाली वस्तु। (पृ. 152-56) साहित्यकार परंपरा से अपने को अविच्छिन्न नहीं रख सकता। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने माना है कि कोई भी लेखक शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता है। संत या भक्त हो, वे सब किसी न किसी रूप से परंपरा से संबद्ध रहते हैं। लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या लेखक का परंपरा से कोई संबंध होता है? यदि हाँ, तो उसकी प्रक्रिया का निर्धारण कैसे होगा? परंपरा से संबद्ध होना और संबंध स्थापित करना दो बातें हैं। वस्तुतः हम रहते हैं वर्तमान में, पर अतीत से हमारी चेतना का सूत्र अचेतन में विद्यमान रहता है, जिससे हम परोक्ष रूप से संचालित होते हैं। इसी अर्थ में लेखक “हम परंपरा से अपना संबंध स्थापित करते हैं।” इस तथ्य को सुचिंतक विचारक प्रो. प्रसाद ने अनेकानेक प्रमाणों से विवेचित किया है।

हिंदी साहित्य की परंपरा भौतिकता, यथार्थता, मानववाद, मानवतावाद और धार्मिकता से होकर अग्रसरित होती है तथा उसकी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती है। इसे प्रभावित करने के लिए लेखक ने विद्वानों के मतों का सहारा लिया है और नलिन जी के सिद्धांतों को स्पष्ट किया है।

अतः यह स्वीकार किया जाएगा कि प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रंथ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण, पठनीय और संरक्षणीय है। विश्वास है पाठक उक्त कृति से अवश्य लाभान्वित होंगे। ऐसी बहुमूल्य रचना के लिए प्रो. विश्वनाथ प्रसाद धन्यवाद के पात्र हैं।

*We Strive  
to Satisfy  
Our Customers*

**VASUNDHARA MARKETING CO.**

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

*Regd. Office*

**1/3575, Netaji Subhash Marg  
Darya Ganj, New Delhi-110002**



With Best Compliments

from

**VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.**

*Administrative Office*

LG-69, World Trade Centre,  
Babar Lane, New Delhi-110001

*Regd. Office*

1/3575, Netaji Subhash Marg,  
Darya Ganj, New Delhi-110002  
Phone Off. 3277883, 3711848